ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ६)

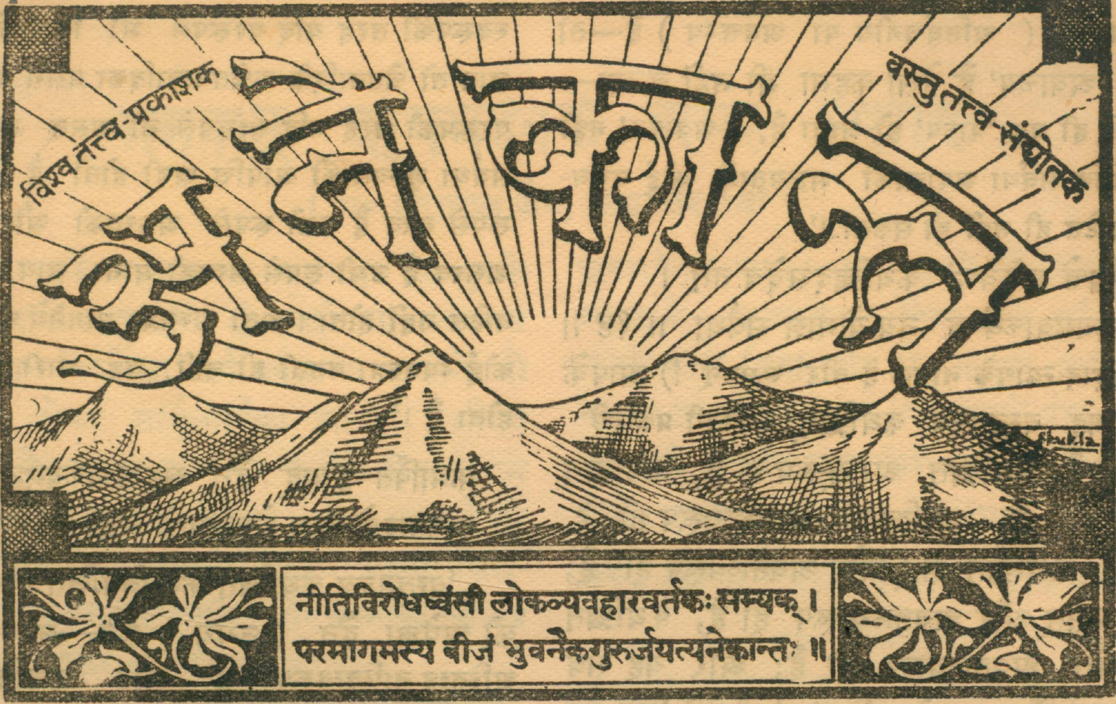

एक किरण का मूल्य ।)

वर्ष १३ किरण ३ — वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, देहली — सितम्बर १९५४
आश्विन् वीर नि० संवत् २४८०, वि० संवत २०११

समन्तभद्र-भारती

देवागम

अभावैकान्त-पक्षेऽपि भावाऽपह्नव-वादिनाम् ।
बोध-वाक्यं प्रमाणं न केन साधन-दूषणम् ॥ १२ ॥

'यदि अभावैकान्तपक्षको स्वीकार किया जाय—यह माना जाय कि सभी पदार्थ सर्वथा असत्-रूप हैं—तो इस प्रकार भावोंका सर्वथा अभाव कहने वालोंके यहाँ (मतमें) बोध (ज्ञान) और वाक्य (आगम) दोनोंका ही अस्तित्व नहीं बनता और दोनोंका अस्तित्व न बननेसे (स्वार्थानुमान, परार्थानुमान आदिके रूपमें) कोई प्रमाण भी नहीं बनता; तब किसके द्वारा अपने अभावैकान्त पक्षका साधन किया जा सकता और दूसरे भाववादियोंके पक्षमें दूषण दिया जा सकता है?—स्वपक्ष-साधन और पर पक्ष-दूषण दोनों ही घटित न होनेसे अभावैकान्तपक्ष-वादियोंके पक्षकी कोई सिद्धि अथवा प्रतिष्ठा नहीं बनती और वह सदोष ठहरता है; फलतः अभावैकान्तपक्षके प्रतिपादक सर्वज्ञ एवं महान् नहीं हो सकते।'

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥ १३ ॥

'(भावैकान्त और अभावैकान्त दोनोंकी अलग-अलग मान्यतामें दोष देखकर) यदि भाव और अभाव दोनोंका एकात्म्य (एकान्त) माना जाय, तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके यहा—उन लोगोंके मतमें जो अस्तित्व-नास्तित्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हें स्वतन्त्र धर्मोंके रूपमें स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-नीतिके शत्रु बने हुए हैं—वह एकात्म्य नहीं बनता; क्योंकि उससे विरोध दोष आता है—भावैकान्त अभावैकान्तका और अभावैकान्त भावैकान्तका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोंमें एकात्मता घटित नहीं हो सकती।'

'(भाव, अभाव और उभय तीनों एकान्तोंकी मान्यतामें दोष देख कर) यदि अवाच्यता (अवक्तव्य) एकान्तको माना जाय—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नहीं बनता—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, 'अवाच्य' नहीं रहता; क्योंकि सर्वथा अवाच्यकी मान्यतामें कोई वचन-व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता।'

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नय-योगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥

'(स्याद्वाद-न्यायके नायक हे वीर भगवन् !) आपके शासनमें वह वस्तुतत्त्व कथञ्चित् (किसी प्रकारसे सत्-रूप ही है, कथञ्चित् असत्-रूप ही है, कथञ्चित् उभयरूप ही है, कथञ्चित् अवक्तव्यरूप ही है (चकारसे) कथञ्चित् सत् और अवक्तव्यरूप ही है; कथञ्चित् असत् और अवक्तव्य रूप ही है, कथञ्चित् सदसत् और अवक्तव्यरूप ही है; और यह सब नयोंके योगसे है—वक्ताके अभिप्राय-विशेषको लिए हुए जो सप्तभंगात्मक नय-विकल्प हैं उनकी विवक्षा अथवा दृष्टिसे है—सर्वथा रूपसे नहीं—नयदृष्टिको छोड़ कर सर्वथारूपमें अथवा सर्वप्रकारसे एकरूपमें कोई भी वस्तुतत्त्व व्यवस्थित नहीं होता।'

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥

'(हे वीर जिन !) ऐसा कौन है जो सबको—चेतन-अचेतनको, द्रव्य-पर्यायादिको, भ्रान्त-अभ्रान्तको अथवा स्वयंके लिए इष्ट अनिष्टको—स्वरूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे—सत् रूप ही, और पररूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे—असत् रूप ही अंगीकार न करे ? —कोई भी लौकिकजन, परीक्षक, स्याद्वादी, सर्वथा एकान्तवादी अथवा सचेतन प्राणी ऐसा नहीं है, जो प्रतीतिका लोप करनेमें समर्थ न होनेके कारण इस बातको न मानता हो। यदि (स्वयं प्रतीत करता हुआ भी कुनयके वश विपरीत-बुद्धि अथवा दुराग्रहको प्राप्त हुआ) कोई ऐसा नहीं मानता है तो वह (अपने किसी भी इष्ट तत्त्वमें) व्यवतिष्ठित अथवा व्यवस्थित नहीं होता है—उसकी कोई भी तत्त्वव्यवस्था नहीं बनती। क्योंकि स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थासे ही वस्तुमें वस्तुत्वकी व्यवस्था सुघटित होती है, अन्यथा नहीं। स्वरूपकी तरह यदि पररूपसे भी किसीको सत् माना जाय तो चेतनादिके अचेतनत्वादिका प्रसंग आता है। और पररूपकी तरह यदि स्वरूपसे भी असत् माना जाय, तो सर्वथा शून्यताकी आपत्ति खड़ी होती है। अथवा जिस रूपसे सत्त्व है उसी रूपसे असत्त्वको और जिस रूपसे असत्त्व है उसी रूपसे सत्त्वको माना जाय, तो कुछ भी घटित नहीं होता। अतः अन्यथा माननेमें तत्त्व या वस्तुकी कोई व्यवस्था बनती ही नहीं, यह भारी दोष उपस्थित होता है।'

क्रमार्पित-द्वयाद् द्वैतं सहाऽवाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥ १६ ॥

'वस्तुतत्त्व कथञ्चित् क्रम-विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा द्वैत (उभय रूप—सदसद्रूप अथवा अस्तित्व-नास्तित्वरूप—है और कथञ्चित् युगपत् विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कथनमें वचनकी अशक्ति-असमर्थताके कारण अवक्तव्यरूप है। (इन चारोंके अतिरिक्त) सत्, असत् और उभयके उत्तरमें अवक्तव्यको लिए हुए जो शेष तीन भंग—सदवक्तव्य, असदवक्तव्य और उभयावक्तव्य—हैं वे (भी) अपने अपने हेतुसे कथञ्चित् रूपमें सुघटित हैं—अर्थात् वस्तुतत्त्व यद्यपि स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा कथंञ्चित् अस्तिरूप है तथापि युगपत् स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कहा न जा सकनेके कारण अवक्तव्यरूप भी है और इसलिए स्यादस्त्यवक्तव्यरूप है इसी तरह स्यान्नास्त्य-वक्तव्य और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इन दो भंगोंको भी जानना चाहिए।'

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येक-धर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद-विवक्षया ॥ १७ ॥

एक धर्मीमें अस्तित्वधर्म नास्तित्वधर्मके साथ अविनाभावी है—नास्तित्वधर्मके विना अस्तित्व नहीं बनता—क्योंकि वह विशेषण है—जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्य (प्रतिपक्ष धर्म) के साथ अविनाभावी होता है—जैसे कि (हेतु-प्रयोगमें) साधर्म (अन्वय-हेतु) भेद-विवक्षा (वैधर्म्य अथवा व्यतिरेक-हेतु) के साथ अविनाभाव सम्बन्धको लिए रहता है। व्यतिरेक (वैधर्म्य) के बिना अन्वय (साधर्म्य) और अन्वयके बिना व्यतिरेक घटित नहीं होता।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् ऋषभदेवके अमर स्मारक

(पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री)

जैन मान्यताके अनुसार भ० ऋषभदेव इस युगके आदि तीर्थंकर थे। उन्होंने ही यहाँ पर सर्वप्रथम लोगोंको जीवन-निर्वाहका मार्ग बतलाया, उन्होंने ही स्वयं दीक्षित होकर साधु-मार्गका आदर्श उपस्थित किया और केवलज्ञान प्राप्त कर उन्होंने ही सर्वप्रथम संसारको धर्मका उपदेश दिया। भ० ऋषभदेवने लिपिविद्या और अंकविद्याका लिखना-पढ़ना सिखलाया, ग्राम-नगरादिकी रचना की और लोगोंको विभिन्न प्रकारकी शिक्षा देकर वर्णोंकी स्थापना की।

आज भारतमें जो प्राचीन संस्कृति पाई जाती है, उसके मूलकी छान-बीन करने पर पता चलता है कि उस पर भ० ऋषभदेवके द्वारा प्रचलित व्यवस्थाओं की कितनी ही अमिट छाप आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है और अक्षय तृतीया, अक्षयवट तथा शिवरात्रि जैसे पर्व तो आज भी भगवानके अन्तिम तीनों कल्याणोंके अमर स्मारकके रूपमें उनके ऐतिहासिक महापुरुष होनेका स्वयं उद्घोष कर रहे हैं। इस लेखमें संक्षेपरूपसे भ० ऋषभदेवके इन्हीं अमर स्मारकों पर प्रकाश डाला जायगा।

भारतवर्ष—

भ० ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र आदि चक्रवर्ती सम्राट् भरत सर्वप्रथम इस षट् खंड भूभागके स्वामी बने और तभीसे इसका नाम 'भरतक्षेत्र' या 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध हुआ। इस कथनकी पुष्टि जैन-शास्त्रोंसे तो होती ही है, किन्तु हिन्दुओंके अनेक पुराणोंमें भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। उनमेंसे २-१ प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं:—

अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ॥३९॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥

—(मार्कण्डेयपुराण अ० ५०)

अर्थात्—नाभिराजके पुत्र ऋषभदेव हुए और ऋषभदेवके भरत। भरत अपने सौ भाइयोंमें सबसे ज्येष्ठ थे। ऋषभदेवने हिमालयके दक्षिणका क्षेत्र भरतके लिये दिया और इस कारण उस महात्माके नामसे इस क्षेत्रका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा।

यही बात विष्णुपुराणमें भी कही गई है:—

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥५७॥

—(विष्णुपुराण, द्वितीयांश अ० १)

इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेखोंसे जहां भरतके नामसे इस क्षेत्रका नाम भारतवर्ष' सिद्ध होता है, वहां भरतके पिता होनेके कारण भ० ऋषभदेवकी ऐतिहासिकता और प्राचीनता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

इक्ष्वाकुवंश—

'जैन मान्यताके अनुसार भ० ऋषभदेवके जन्मसे पूर्व यहां पर भोगभूमि थी और यहांके निवासी कल्पवृक्षोंसे प्रदत्त भोग-उपभोगकी सामग्रीसे अपना जीवन निर्वाह करते थे। जब ऋषभदेवका जन्म हुआ, तब वह व्यवस्था समाप्त हो रही थी और कर्मभूमिकी रचना प्रारम्भ हो रही थी। भोगभूमिके समाप्त होते ही कल्पवृक्ष लुप्त हो गये और यहांके निवासी भूख-प्याससे पीड़ित हो उठे। वे 'त्राहि-त्राहि' करते हुए ऋषभदेवके पास पहुंचे। लोगोंने अपनी करुण कहानी उनके सामने रखी। भगवान उनके कष्ट सुनकर द्रवित हो उठे और उन्होंने सर्वप्रथम अनेक दिनोंसे भूखी-प्यासी प्रजाको अपने आप उगे हुए इक्षुओं (गन्नों) के रस-पान-द्वारा अपनी भूख-प्यास शान्त करनेका उपाय बतलाया और इसी कारण लोग आपको 'इक्ष्वाकु' कहने लगे।

'इक्षु इति शब्दं अकतीति, अथवा इक्षुमाकरोतीति इक्ष्वाकुः।' अर्थात् भूखी-प्यासी प्रजाको 'इक्षु' ऐसा शब्द कहनेके कारण भगवान् 'इक्ष्वाकु' कहलाये।

सोमवंश, सूर्यवंश आदि जितने भी वंश हैं, उनमें 'इक्ष्वाकु' वंश ही आद्य माना जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तदनन्तर भ० ऋषभदेवने प्रजाको असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्पवृत्तिकी शिक्षा देकर अपनी जीविका चलानेका मार्ग दिखाया और ग्राम-नगरादिके रचनेका उपाय बताकर व्याघ्रादि हिंस्र प्राणियोंसे आत्म-रक्षा करने और सर्दी-गर्मीकी बाधा दूर करनेका मार्ग दिखाया।

भ० ऋषभदेवने ही सर्वप्रथम घड़ा बनानेकी विधि बतलाई और कूप, बावड़ी आदि बनाने और उनसे पानी निकालकर पीनेका मार्ग बतलाया। इन सब कारणोंसे भगवान् 'प्रजापति' कहलाये।

विक्रमकी दूसरी शताब्दीके महान् विद्वान् स्वामी समन्तभद्रने अपने प्रसिद्ध स्वयम्भूस्तोत्रमें इन दोनों बातोंको इस प्रकार चित्रित कर उनकी प्रामाणिकता प्रकट की है—

'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥२॥
'मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्
प्रभुःप्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस कर्म-भूमि-युगके प्रारम्भमें प्रजाकी सुव्यवस्था करनेके कारण भ० ऋषभदेव ब्रह्मा, विधाता, सृष्टा आदि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध हुए।

ब्राह्मीलिपि—

भ० ऋषभदेवने सर्व प्रथम अपने भरत आदि पुत्रोंको पुरुषोंकी ७२ कलाओंमें पारंगत किया। ज्येष्ठ पुत्र भरत नाट्य-संगीत कलामें सबसे अधिक निपुण थे। आज भी नाट्यशास्त्रके आद्य प्रणेता भरत माने जाते हैं। भगवान्ने अपनी बड़ी पुत्रीको लिपिविद्या-अक्षर लिखनेकी कला-और छोटी सुन्दरी पुत्रीको अंक-विद्या सिखाई। ब्राह्मीके द्वारा प्रचलित लिपिका नाम ही 'ब्राह्मी लिपि' प्रसिद्ध हुआ। भारतकी लिपियोंमें यह सबसे प्राचीन मानी जाती है और प्रणेताके रूपमें भगवान् ऋषभदेवकी अमर स्मारक है।

अक्षयतृतीया—

एक लम्बे समय तक प्रजाका पालन कर ऋषभदेव संसारसे विरक्त होकर दीक्षित हो गये और दीक्षा लेनेके साथ ही छह मासका उपवास स्वीकार किया। तदनन्तर वे आहारके लिए निकले। परन्तु उस समयके लोग मुनियोंको आहार देनेकी विधि नहीं जानते थे, अतः कोई उनके सामने रत्नोंका थाल भरकर पहुंचता, तो कोई अपनी सुन्दरी कन्या लेकर उपस्थित होता। विधिपूर्वक आहार न मिलने के कारण ऋषभदेव पूरे छह मास तक इधर-उधर परिभ्रमण करते रहे और अन्तमें हस्तिनापुर पहुंचे। उस समय वहांके राजा सोमप्रभ थे। उनके छोटे भाई श्रेयांस थे। उनका कई पूर्व भवोंमें भगवान्से सम्बन्ध रहा है और उन्होंने पूर्व भवमें भगवान्के साथ किसी मुनिको आहार दान भी दिया था। भगवान्के दर्शन करते ही श्रेयांसको पूर्वभवकी सब बातें स्मरण हो आईं और उन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे भगवान्को पडिगाह करके इक्षुरसका आहार दिया। वह दिन वैशाखशुक्ला तृतीयाका था। भगवान्को पूरे एक वर्षके पश्चात् आहार मिलनेके हर्षमें देवोंने पंचाश्चर्य किये; श्रेयांसका जयघोष किया और 'तुम दान तीर्थके आद्य प्रवर्तक हो।' यह कहकर उनका अभिनन्दन किया। इस प्रकार भगवान्को आहार-दान देनेके योगसे यह तिथि अक्षय बन गई और तभीसे यह 'अक्षयतृतीया' के नामसे प्रसिद्ध होकर मांगलिक पर्वके रूपमें प्रचलित हुई ❀।

अक्षयवट—

भ० ऋषभदेव पूरे १००० वर्ष तक तपस्या करनेके अनन्तर पुरिमतालपुर पहुंचे जो कि आज प्रयागके नामसे प्रसिद्ध है। वहां पर नगरके समीपवर्त्ती शकट नामक उद्यानके वटवृक्षके नीचे वे ध्यान लगा कर अवस्थित हो गये और फाल्गुन कृष्णा एकादशीके दिन उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, वे अक्षय अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके धारक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। भगवानको जिस वट वृक्षके नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, वह उसी दिनसे 'अक्षय वट' के नामसे संसारमें प्रसिद्ध हुआ।

❀ राधशुक्लतृतीयायां दानमासीत्तदक्षयम्।
पर्वाक्षयतृतीयेति ततोऽद्यापि प्रवर्तते ॥३०१॥
(त्रि० ल० श० पर्व १ सर्ग ३)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नंदिसंघकी गुर्वावलीमें 'अक्षयवट' का उल्लेख इस प्रकारसे किया गया है:—

'श्रीसम्मेदगिरि-चम्पापुरी-उर्जयन्तगिरि-अक्षयवट-आदीश्वरदीक्षासर्वसिद्धक्षेत्रकृतयात्राणां।'

इस उल्लेखसे सिद्ध है कि 'अक्षयवट' भी जैनियोंमें तीर्थस्थानके रूपमें प्रसिद्ध रहा है।

प्रयाग—

भ० ऋषभदेवका प्रथम समवसरण इसी पुरिमतालपुरके उसी उद्यानमें रचा गया। इन्द्रने असंख्य देवी-देवताओंके साथ तथा भरतराजने सहस्त्रों राजाओं और लाखों मनुष्योंके साथ आकर भगवानके ज्ञान-कल्याणकी बड़ी ठाठ-बाटसे पूजा-अर्चा की। इस महान् पूजन रूप प्रकृष्ट यागमें देव और मनुष्योंने ही नहीं, पशु-पक्षियों तक ने भी भाग लिया था और सभीने अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार महती भक्तिसे पूजा-अर्चा की थी। इस प्रकृष्ट या सर्वोत्कृष्ट याग होनेके कारण तभीसे पुरिमतालपुर 'प्रयाग' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। 'याग' नाम पूजनका है। जैन मान्यताके अनुसार इन्द्रके द्वारा की जाने वाली 'इन्द्रध्वज' पूजन ही सबसे बड़ी मानी जाती है।

शिवरात्रि—

केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् भ० ऋषभदेवने आर्यावर्तके सर्व देशोंमें विहार कर धर्मका प्रसार किया और जीवनके अन्तमें अष्टापद पहुंचे, जिसे कि आज कैलास पर्वत कहते हैं। वहां योग-निरोध कर आपने माघ कृष्णा चतुर्दशीके दिन शिव (मोक्ष) प्राप्त किया। अष्टापद या कैलाससे भगवानने जिस दिन शिव प्राप्त किया उस दिन सर्व साधु-संघने दिनको उपवास और रात्रिको जागरण करके शिवकी आराधना की, इस कारण उसी दिनसे यह तिथि भी 'शिवरात्रि' के नामसे प्रसिद्ध हुई। उत्तरप्रान्तमें शिवरात्रिका पर्व फाल्गुण कृष्णा १४ को माना जाता है, इसका कारण उत्तरी और दक्षिणी देशोंके पंचांगोंमें एक मौलिक भेद है। उत्तर भारत वाले मासका प्रारम्भ कृष्ण पक्षसे मानते हैं, पर दक्षिण भारत वाले शुक्लपक्षसे मासका प्रारम्भ मानते हैं और प्राचीन मान्यता भी यही है। यही कारण है कि कई हिन्दू शास्त्रोंमें माघ कृष्णा चतुर्दशीके दिन ही शिवरात्रिका उल्लेख पाया जाता है *।

उत्तर और दक्षिण भारतवालोंकी यह मास-विभिन्नता केवल कृष्णपक्षमें ही रहती है, किन्तु शुक्लपक्ष तो दोनोंके मतानुसार एक ही होता है। जब उत्तर भारतमें फाल्गुण कृष्णपक्ष चालू होगा, तब दक्षिण भारतमें वह माघ कृष्णपक्ष कहलाएगा। जैन पुराणोंके खास कर आदिपुराणके रचयिता आचार्य जिनसेन दक्षिणके ही थे, अतः उनके ही द्वारा लिखी गई माघ कृष्णा चतुर्दशी उत्तरभारतवालोंके लिए फाल्गुण-कृष्णा चतुर्दशी ही हो जाती है।

स्वयं इस मासवैषम्यका समन्वय हिन्दू पुराणोंमें भी इसी प्रकार किया है। —कालमाधवीय नागरखंड-में लिखा है:—

माघमासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता॥

अर्थात्—दक्षिण वालोंके माघ मासके उत्तरपक्षकी और उत्तर वालोंके फाल्गुण मासके प्रथमपक्षकी कृष्णा चतुर्दशी शिवरात्रि मानी गई है।

इस प्रकार अक्षय तृतीया भ० ऋषभदेवके दीक्षा-तपकल्याणककी, अक्षयवट ज्ञानकल्याणकका और शिवरात्रि निर्वाणकल्याणककी अमर स्मारक है।

शिवजी और उनका वाहन नन्दी बैल—

हिन्दुओंने जिन तेतीस कोटि देवताओंको माना है उनमें ऐतिहासिक दृष्टिसे शिवजीको सबसे प्राचीन या आदिदेव माना जाता है। उनका वाहन नन्दी बैल और निवास कैलाश पर्वत माना जाता है। साथ ही शिवजीका नग्नस्वरूप भी हिन्दुपुराणोंमें बताया गया है। जैन मान्यताके अनुसार ऋषभदेव इस युगके आदितीर्थंकर थे और उनका वृषभ (बैल) चिन्ह था। वे जिनदीक्षा लेनेके पश्चात् आजीवन नग्न रहे और अन्तमें कैलाश पर्वतसे शिव प्राप्त किया। क्या ये सब

* माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः॥
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः॥
(ईशानसंहिता)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बातें ऋषभदेव और शिवजीकी एकताकी द्योतक नहीं हैं ? निश्चयतः उक्त समता अकारणक नहीं है और उसकी तहमें एक महान तथ्य भरा हुआ है।

शिवजीको जटा-जूट युक्त माना जाता है। भगवान ऋषभदेवकी आज जितनी भी प्राचीन मूर्त्तियां मिली हैं, उन सबमें भी नीचे लटकती हुई केश-जटाएँ स्पष्ट दृष्टि गोचर होती हैं। आ० जिनसेनने अपने आदिपुराणमें लिखा है कि भ० ऋषभदेवके दीक्षा लेनेके अनन्तर और पारणा करनेके पूर्व एक वर्षके घोर तपस्वी जीवनमें उनके केश बहुत बढ़ गये थे और वे कन्धोंसे भी नीचे लटकने लगे थे, उनके इस तपस्वी जीवनके स्मरणार्थ ही उक्त प्रकारकी मूर्त्तियोंका निर्माण किया गया इस प्रकार शिवजी और ऋषभदेवकी जटा-जूट युक्त मूर्त्तियां उन दोनोंकी एकताकी ही परिचायक हैं।

गंगावतरण—

हिन्दुओंकी यह मान्यता है कि गंगा जब आकाशसे अवतीर्ण हुई, तो शिवजीकी जटाओंमें बहुत समय तक भ्रमण करती रही और पीछे वह भूमण्डल पर अवतरित हुई। पर वास्तवमें बात यह है कि गंगा हिमवान् पर्वतसे नीचे जिस गंगाकूटमें गिरती है, वहां पर एक विस्तीर्ण चबूतरे पर आदि जिनेन्द्रकी जटामुकुट वाली वज्रमयी अनेक प्रतिमाएँ हैं, जिन पर हिमवान् पर्वतके ऊपरसे गंगाकी धार पड़ती है। इसका बहुत सुन्दर वर्णन त्रिलोक-प्रज्ञप्तिकारने किया है, जो विक्रमकी चौथी शताब्दीके महान् आचार्य थे और जिन्होंने अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थोंकी रचना की है। वे उक्त गंगावतरणका वर्णन अपनी त्रिलोकप्रज्ञप्तिके चौथे अधिकारमें इस प्रकार करते हैं:—

आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मगंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि।२३०

अर्थात्—उस कुण्डके श्रीकूट पर जटा-मुकुटसे सुशोभित आदिजिनेन्द्रकी प्रतिमाएं हैं। उन प्रतिमाओंका मानों अभिषेक करनेके लिये ही गंगा उन प्रतिमाओंके जटाजूट पर अवतीर्ण होती है। (अभिषेक जलसे युक्त होनेके कारण ही शायद वह बादको सर्वांगमें पवित्र मानी जाने लगी।)

त्रिलोकसारके रचयिता आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी गंगावतरणके इस दृश्यको इस प्रकार चित्रित किया है:—

सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामउलं।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा।५९०

अर्थात् - श्रीदेवीके गृहके शीर्ष पर स्थित कमलकी कर्णिकाके ऊपर एक सिंहासन पर विराजमान जो जटामुकुटवाली जिनमूर्ति है, उसे अभिषेक करनेके लिये ही मानों गंगा हिमवान् पर्वतसे अवतीर्ण हुई है।

शिवजीके मस्तक पर गंगाके अवतीर्ण होनेका रहस्य उक्त वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है और किसी भी निष्पक्ष पाठकका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है।

शिवजीके उक्त रूपकका अर्थ इस प्रकार भी लिखा जा सकता है कि इस युगके प्रारम्भमें दिव्यवाणीरूपी गंगा भ० ऋषभदेवसे ही सर्वप्रथम प्रकट हुई, जिसने भूमंडल पर बसनेवाले जीवोंके हृदयोंसे पाप-मलको दूर कर उन्हें पवित्र बनानेका बड़ा काम किया।

तक्षशिला और गोम्मट्टेश्वरकी मूर्ति—

भारतवर्षके आदि सम्राट् भरतके जीवनमें एक ऐसी घटना घटी, जो युग-युगोंके लिये अमर कहानी बन गई। जब वे दिग्विजय करके अयोध्या वापिस लौटे और नगरमें प्रवेश करने लगे, तब उनका सुदर्शनचक्र नगरके द्वार पर अटक कर रह गया। राजपुरोहितोंने इसका कारण बतलाया कि अभी भी कोई ऐसा राजा अवशिष्ट है, जो कि तुम्हारी आज्ञाको नहीं मानता है। बहुत छान-बीनके पश्चात् ज्ञात हुआ कि तुम्हारे भाई ही आज्ञा-वश-वर्ती नहीं हैं। सर्व भाइयोंके पास सन्देश भेजा गया। वे लोग भरतकी शरणमें न आकर और राज पाट छोड़कर भ० ऋषभदेवकी शरणमें चले गये, पर बाहुबलीने—जो कि भरतकी विमाताके ज्येष्ठ पुत्र थे—स्पष्ट शब्दोंमें भरतकी आज्ञा माननेसे इन्कार कर दिया और दूतके मुखसे कहला दिया कि जाओ और भरतसे कह दो—'जिस बापके तुम बेटे हो, उसीका मैं भी हूँ। मैं पिताके दिये राज्यको भोगता हूँ, मुझे तुम्हारा आधिपत्य स्वीकार नहीं है।' भरतने यह सन्देश सुनकर बाहुबलीको युद्धका आमन्त्रण भेज दिया। दोनों ओरसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सैनिकगण समरांगणमें उतर आये। रण-भेरी बजने ही वाली थी कि दोनों ओरके मन्त्रियोंने परस्परमें परामर्श किया—'ये दोनों तो चरम शरीरी और उत्कृष्ट संहननके धारक हैं, इनका तो कुछ बिगड़ेगा नहीं। बेचारे सैनिक परस्परमें कट मरेंगे। इनका व्यर्थ संहार न हो, अतः उभयपक्षके मन्त्रियोंने अपने-अपने स्वामियोंसे कहा—'महाराज, व्यर्थ सेनाके संहारसे क्या लाभ? आप दोनों ही परस्परमें युद्ध करके क्यों न निपटारा कर लें?' भरत और बाहुबलीने इसे स्वीकार किया। मध्यस्थ मन्त्रियोंने दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध निश्चित किये और भरत तीनों ही युद्धोंमें अपने छोटे भाई बाहुबलीसे हार गये। हारसे खिन्न होकर और रोषमें आके भरतने बाहुबलीके ऊपर सुदर्शनचक्र चला दिया। कभी व्यर्थ न जाने वाला यह अमोघ अस्त्र भी तद्भवमोक्षगामी बाहुबलीका कुछ बिगाड़ न कर सका, उल्टा उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर वापिस चला गया। इस घटनासे संसारके आदि चक्रवर्ती भरतका अपमान हुआ और वे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। पर बाहुबलीके दिलको बड़ी चोट पहुंची और विचार आया कि धिक्कार है इस राज्यलक्ष्मीको, कि जिसके कारण भाई-भाईका ही गला काटनेको तैयार हो जाता है। वे इस विचारके जागृत होते ही राज-पाटको छोड़कर वनको चले गये और पूरे एक वर्षका प्रतिमायोग धारण करके घोर तपश्चर्यामें निरत हो गये। इस एक वर्षकी अवधिमें उनके चरणोंके पास चींटियोंने बामी बना डाली और सांपोंने उसमें डेरा डाल दिया। पृथ्वीसे उत्पन्न हुई अनेक लताओंने ऊपर चढ़कर उनके शरीरको आच्छादित कर लिया! इन दोनों ही घटनाओंकी यथार्थताको प्रमाणित करनेवाले जीते-जागते प्रमाण आज उपलब्ध हैं। कहते हैं कि जिस स्थान पर दोनों भाइयोंका यह युद्ध हुआ था और जहाँ पर चक्र चलाया गया था, वह स्थान 'तक्षशिला' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। (तक्षशिलाका शब्दार्थ तक्षण अर्थात् काटने वाली शिला होता है।) तथा बाहुबलीकी उस उग्र तपस्याकी स्मारक श्रवणबेलगोल (मैसूर) के विंध्यगिरि-स्थित बाहुबलीकी ५७ फीट ऊँची, संसारको आश्चर्यमें डालनेवाली मनोज्ञ मूर्ति आज भी उक्त घटनाकी सत्यता संसारके सामने प्रकट कर रही है। तथा वहीं दूसरी पहाड़ी चन्द्रगिरि पर अवस्थित जड़-भरतकी मूर्ति उनकी किंकर्तव्यविमूढ़ताका आज भी स्मरण करा रही है।

भरत और बाहुबली दोनों ही भ० ऋषभदेवके पुत्र थे, अतएव उन दोनोंकी ऐतिहासिक सत्यताके प्रतीक स्मारक पाये जानेसे भ० ऋषभदेवकी ऐतिहासिक प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज विविध रूपोंमें भ० ऋषभदेवके अमर स्मारक अपनी ऐतिहासिकताकी अमिट छापको लिये हुए भारतवर्षमें सर्वत्र व्याप्त हैं, जिससे कोई भी पुरातत्त्वविद् इन्कार नहीं कर सकता।

आशा है सहृदय ऐतिहासिक विद्वान् इस लेख पर गम्भीरताके साथ विचार करनेकी कृपा करेंगे और उसके फलस्वरूप भ० ऋषभदेवके अमरस्मारक और भी अधिक प्रकाशमें आकर लोक मानसमें अपना समुचित स्थान बनाएंगे।

'अनेकान्त' की पुरानी फाइलें

'अनेकान्त' की कुछ पुरानी फाइलें वर्ष ४ से १२ वें वर्षतक की अवशिष्ट हैं जिनमें समाजके लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा इतिहास, पुरातत्व, दर्शन और साहित्यके सम्बन्धमें खोजपूर्ण लेख लिखे गये हैं और अनेक नई खोजों द्वारा ऐतिहासिक गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न किया गया है। लेखोंकी भाषा संयत सम्बद्ध और सरल है। लेख पठनीय एवं संग्रहणीय हैं। फाइलें थोड़ी ही शेष रह गई हैं। अतः मंगानेमें शीघ्रता करें। प्रचारकीदृष्टिसे फाइलोंको लागत मूल्य पर दिया जायेगा। पोस्टेज खर्च अलग होगा।

—मैनेजर—'अनेकान्त', वीरसेवामन्दिर, दिल्ली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिल्ली और योगिनीपुर नामोंकी प्राचीनता

(लेखक—अगरचन्द नाहटा)

अनेकान्तके वर्ष १३ अंक १ में पं० परमानन्दजी शास्त्रीका 'दिल्ली और उसके पाँच नाम' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने १ इन्द्रप्रस्थ २ ढिल्ली ३ योगिनीपुर या जोइणीपुर, ४ दिल्ली और ५ जहांनाबाद—इन पांच नामोंके सम्बन्धमें अपनी जानकारी प्रकाशित की है। इनमेंसे जहांनाबाद नाम तो बहुत पीछेका और बहुत कम प्रसिद्ध है और इन्द्रप्रस्थ पुराना होने पर भी जनसाधारणमें प्रसिद्ध कम ही रहा है। साहित्यगत कुछ उल्लेख इस नामके जरूर मिलते हैं चौथा दिल्ली और ढिल्ली वास्तवमें दोनों एक ही नाम हैं। ढिल्लीका उपभ्रंश हो जनसाधारणके मुखसे बदलता-बदलता दिल्ली बन गया हैं। वास्तवमें उसका भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कई लोगोंकी जो यह कल्पना है कि दिलू राजाके नामसे दिल्लीका नामकरण हुआ, पर वास्तवमें यह एक भ्रांत और मनगढ़न्त कल्पना है। दिलू राजाका वहां होना किसी भी इतिहाससे समर्थित नहीं, अत एव ढिल्ली और योगिनीपुर ये दोनों नाम ही ऐसे रहते हैं, जो करीब एक हजार वर्षोंसे प्रसिद्ध रहे हैं, अतः इनकी प्राचीनताके सम्बन्धमें ही प्रस्तुत लेखमें प्रकाश डाला जायगा।

ढिल्ली नामकी प्राचीनताके सम्बन्धमें पं० परमानन्द जीने संवत् ११८९ के श्रीधर-रचित पार्श्वनाथचरित्रमें इस नामका सर्व प्रथम प्रयोग हुआ है—ऐसा सूचित करते हुए लिखा हैं कि "इससे पूर्वके साहित्यमें उक्त शब्दका प्रयोग मेरे देखनेमें नहीं आया।" यद्यपि 'गणधरसार्द्धशतकबृहद्वृत्ति' जिसकी रचना सं० १२९५ में हुई है, उक्त पार्श्वनाथचरित्रके पीछेकी रचना है, पर उक्त ग्रन्थमें ग्यारहवीं शताब्दीके वर्द्धमानसूरिका परिचय देते हुए उनके 'ढिल्ली, वादली' आदि देशोंमें पधारनेका उल्लेख किया है।

—स्वाचार्याः नु ज्ञातः कतिपययतिपरिवृतः ढिल्ली-बादली-प्रमुखस्थानेषु समाययौ।' इसीसे ग्यारहवीं शताब्दीमें भी इस नगरके पार्श्ववर्ती प्रदेशको ढिल्ली प्रदेश कहते थे, ज्ञात होता है। आचार्य वर्द्धमानसूरि रचित उपदेशपदटीका सं० १०५५ की प्राप्त है और यह घटना उससे भी पहले की है। अतः सं० १०५० से पूर्व भी ढिल्ली नाम प्रसिद्ध व सिद्ध होता है ×।

जोइणीपुर या योगिनीपुरकी प्राचीनताके सम्बन्धमें पं० परमानन्दजीने पंचास्तिकायकी सं० १३२६ की लिखित प्रशस्ति उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'योगिनीपुर का उल्लेख अनेक स्थलों पर पाया जाता है। 'जिनमें सं० १३२६ का उल्लेख सबसे प्राचीन जान पड़ता है।' पर श्वेताम्बर साहित्यसे इस नामकी प्राचीनता सं० १२०० के लगभग जा पहुंचती हैं और इस नामकी प्रसिद्धिका कारण भी भली भांति स्पष्ट हो जाता है। इसलिए यहां इस नामके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

संवत् १३०५ में ढिल्ली वास्तव्य साधु साहुलिके पुत्र हेमाकी अभ्यर्थनासे खरतरगच्छीय जिनपति सूरिके शिष्य विद्वद्वर जिनपालोपाध्यायके 'युगप्रधानाचार्य गुर्वावली' नामक१ ऐतिहासिक ग्रन्थकी रचना की भारतीय साहित्यमें संवतानुक्रम और तिथिके उल्लेखवार प्रत्येक घटनाका सिलसिलेवार वर्णन करनेवाला यह एक ही अपूर्व ग्रन्थ है। रचयिताके गुरु जिनपतिसूरिके गुरु जिनचन्दसूरि जो कि सुप्रसिद्ध जिनदत्तसूरिके शिष्य थे, का जीवनवृत्त देते हुए संवत् १२२३ में उनके ढिल्ली—योगिनीपुर (वहांके राजा मदनपालके अनुरोधसे) पधारनेका विवरण दिया है। यहां उसका आवश्यक अंश उद्धृत किया जाता है:—

ततःस्थानात्प्रचलितान् पृष्ठगामे संघातेन सहागतान् श्रीपूज्यान् श्रुत्वा ढिल्लीवास्तव्य ठ० लोहर सा० पाल्हण—सा० कुलचन्द्र सा० गृहिचन्द्रादि संघ मुख्य श्रावका महता विस्तेरण वन्दनार्थं सम्मुखं प्रचालिताः।

× पूर्ववर्ती तो तब होता, जब उसी समयके बने हुए ग्रन्थमें उन नामोंका उल्लेख हो, यों तो अनेक विषयोंके अनेक उल्लेख मिलते हैं।

अच्छा होता यदि लेखक महानुभाव सं० १०५० या उससे पूर्ववर्ती ग्रन्थमें उल्लिखित 'ढिल्ली' शब्दके प्रयोगका उल्लेख दिखलाते। —सम्पादक

१ देखें भारतीयविद्या वर्ष १ पृष्ठ ४ में प्रकाशित हमारा लेख।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तांश्च प्रधानवेषान् प्रधानपरिवारान् प्रधानवाहनाधिरूढान् ढिल्ली-नगराद्बहिर्गच्छन्तो दृष्ट्वा स्वप्रसादोपरि वर्तमानः श्री मदनपालराजा विस्मितः सन्, स्वकीय राजप्रधानलोकं पप्रच्छ—'

श्रीपूज्यैरुक्तम्—'महाराज ! युष्मदीयं नगरं प्रधानं धर्मक्षेत्रं ।' तर्हि उत्तिष्ठत चलत ढिल्लीं-प्रति, न कोऽपि युष्मानंगुलिकयापि संज्ञास्यतीत्यादि । श्री-मदनपालमहाराजोपरोधाद् 'युष्माभिर्योगिनीपुरमध्ये कदापि न विहर्तव्यमित्यादि श्रीजिनदत्तसूरिदत्तोपदेशत्यागे न हृदये दयमाना अपि श्री पूज्याः श्री ढिल्लीं प्रति प्रस्थिताः ।'

यह गुर्वावली जिनचन्द्रसूरिजीके प्रशिष्यकी ही निर्मित है, इसलिये इसकी प्रामाणिकतामें सन्देहकी गुंजाइस नहीं है। उपर्युक्त उद्धरणोंसे सम्वत् १२२३ में दिल्लीके राजा मदनपाल थे सिद्ध है। उस समयके प्रधान श्रावकोंके नामोंके उद्धरणोंसे, वहाँ पार्श्वनाथ विधि चैत्य भी था, इसकी जानकारी मिलती है। जिन आचार्यश्रीके दिल्लीमें स्वर्गवासी होनेका, उल्लेख है, वे मणिधारी जिनचन्द्रसूरिके नामसे प्रख्यात हैं और उनका स्तूप कुतुबमीनारके पास आज भी विद्यमान व पूज्यमान है। उनका अग्नि संस्कार इतने दूरवर्ती स्थानमें क्यों किया गया, इसके सम्बन्धमें गुर्वावलीमें लिखा है कि ऐसी प्रसिद्धि रही है कि आचार्यश्रीका कथन है कि मेरा अग्नि संस्कार जितनी दूरवर्ती भूमिमें किया जायगा, वहाँ तक नगरकी वस्ती बढ़ जाएगी — "तदनन्तरं श्रावकैर्महाविस्तरेणाऽनेकमण्डपिका मण्डिते विमान आरोप्य यत्र क्वाप्यस्माकं संस्कारं करिष्यत यूयं तावतीं भूमिकां यावन्नगरवसितिः भविष्यतीत्यादि गुरुवाक्यस्मृतेरतीव दूरभूमौ नीताः ।"

गुर्वावलीमें जिनचन्द्रसूरिजीको जिनदत्तसूरिजीने योगिनीपुर जाना क्यों मना किया था ? और वहाँ जाने पर एकाएक छोटी उम्रमें ही उनका क्यों स्वर्गवास हो गया ? इसके सम्बन्धमें कुछ भी प्रकाश नहीं डाला पर परवर्ती पट्टावलियों व वृद्धाचार्य प्रबन्धावलीमें इस सम्बन्धमें जो प्रवाद था, उसका स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रबन्धावलीमें लिखा है कि एक बार जिनदत्तसूरि अजमेर दुर्ग पधारे, वह चौसठ योगनियोंका पीठ-स्थान था। योगिनियोंने आचार्य श्रीके रहते अपना पूजा सत्कार नहीं होगा समझ उन्हें छलनेके लिये वे श्राविकाके रूपमें व्याख्यानमें आयी। सूरिजीने उन्हें सूर्यमन्त्रके अधिष्ठायक द्वारा कीलके स्तम्भित कर दी। वे उठ न सकीं तब सूरिजीसे प्रार्थना कर मुक्त हुईं और कहा हमें एक वचन दीजिये कि जहां जहां हमारा पीठ स्थान है, आप नहीं जायं । हमारा पहला पीठ उज्जयनीमें, दूसरा दिल्ली, तीसरा अजमेर दुर्ग और आधा भरू अच्छमें है। वहाँ आपके शिष्य या पट्टधर न जायं। जाने पर मरण-बन्धनादि कष्ट होंगे

इसीलिये जिनदत्त सूरिजीने वहां जानेका निषेध किया था पर भावी भाववश राजा व संघके अनुरोधसे वहां जाना हुआ । प्रबन्धावलिमें लिखा है— 'जोगिनीहिं छलिओ मओ' अज्जवि पुरातन ढिल्ली मज्झे तस्स थुंभो अच्छई। संघो तस्स जत्ता कम्मं कुणइ' अर्थात् जिनचन्द्रसूरिजीका स्वर्गवास योगनियोंके छलके द्वारा हुआ। उनका स्तूप आज भी पुरानी दिल्लीमें है, जिसकी संघ यात्रा किया करता है।

प्रबन्धावलि १७वीं शताब्दीके प्रारम्भ या उससे पहलेकी रचना है। उस समय जिनचन्द्रसूरिके स्तूप स्थानकी संज्ञा 'पुरातन ढिल्लीः मानी जाती थी।

योगिनीपुर नामकरणका कारण हमें उपर्युक्त प्रबन्धावलि द्वारा स्पष्ट रूपमें मिल जाता है कि ढिल्ली चौसठ योगिनियोंका पीठ स्थान था और उनकी प्रसिद्धिके कारण ही दिल्लीका दूसरा नाम योगिनीपुर प्रसिद्ध हुआ।

इस नामकी प्राचीनता सम्वत् १३०५ व १२२३ तक तो गुर्वावलीसे सिद्ध ही है और उसमें जिनदत्त सूरिके कहे हुए निषेध वाक्यमें भी 'योगिनीपुर' नाम ही दिया है, इसलिये बारहवीं शताब्दी तक इस नामकी प्राचीनता जा पहुँचती है।

दिल्लीका जैन इतिहास भी अवश्य प्रकाशित होना चाहिए। उसके सम्बन्धमें काफी सामग्री इधर-उधर विखरी पड़ी है उन सबका संग्रह होकर सुव्यवस्थित इतिहास लिखा जाना आवश्यक है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंका गत एक हजार वर्षसे यहां अच्छा निवास और प्रभाव रहा है । यहांके प्राचीन मन्दिरोंका विवरण भी संगृहीत किया जाना चाहिये। इस सम्बन्धमें मेरी सेवाएँ हर समय प्रस्तुत हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निरतिवादी समता

(स्वामी सत्यभक्त)

समाजमें न सब मनुष्य सब तरह समान बनाये जा सकते हैं न उनमें इतनी विषमता ही उचित कही जा सकती है जितनी आज है। पर आज दोनों तरहके अतिवादोंका पोषण किया जाता है। अतिसमतावादी यह कहते हैं कि साहब, चीनमें कालेजके एक चपरासीमें तथा प्रिन्सिपलमें फरक ही नहीं होता। इस प्रकारके लोग अन्धाधुन्ध समताके गीत गाते हैं। मानों विशेष योग्यता, विशेष अनुपयोगिता, विशेष सेवा या श्रमका कोई विशेष मूल्य न हो। ऐसी अतिवादी समता अव्यावहारिक तो होगी ही, पर उसकी दुहाई देनेसे जो लोगोंमें मुफ्तखोरी अन्याय कृतघ्नता आदि दोष बढ़ रहे हैं। उनका दुष्परिणाम समाजको और स्वयं उन लोगोंको भोगना पड़ेगा। यह तो अन्धेर नगरी होगी।

अन्धेर नगरी बेबूझ राजा।
टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

इस कहावतको चरितार्थ करना होगा।

दूसरी तरफ अतिवैषम्य है। एक आदमी मिहनत किये बिना या नाममात्रकी मिहनत या विशेषतासे हजारों लाखों कमा लेता है। दूसरी तरफ बौद्धिक और शारीरिक घोर श्रम करके भी भरपेट भोजन या उचित सुविधाएँ नहीं प्राप्त कर पाता। इस अतिवैषम्यको भी किसी तरह सहन नहीं किया जा सकता।

ये दोनों तरहके अतिवाद समाजके नाशक हैं। हमें अतिसमता और अतिविषमता दोनोंके दोषोंको समझकर निरतिवादी समताका मार्ग अपनाना चाहिये। इस बातमें मनोवैज्ञानिकता तथा व्यावहारिकताका भी पूरा ध्यान रखना चाहिये।

आर्थिक समताके मार्गमें रूसने सबसे अधिक प्रगति की है और वहां पूंजीवाद सबसे कम है विषमता भी सबसे कम है। फिर भी इतनी बातें तो वहां भी हैं।

१—किसी को २५० रूबल महीना मिलता है और किसीको ४००० रूबल महीना मिलता है। मतलब यह कि वहां सोलह गुणे तकका अन्तर शासन क्षेत्रमें है। श्रमिकोंमें यह अन्तर चौदह गुणा तक है। किसी-किसी श्रमिकको साढ़े तीन हजार रूबल मासिक तक मिलता है।

२—रेलवे में वहां भारतकी तरह तीन श्रेणियां हैं।

३—मकान, पशु आदि व्यक्तिगत सम्पत्ति काफी है और इसमें भी विषमता है।

४—अपना मकान भाड़ेसे देकर मनुष्य पूंजी पर मुनाफा खा सकता है, जो धंधा बिना नौकरके चल सकता है उसमें पूंजी लगाकर आमदनी बढ़ा सकता है, बैंकमें रुपया जमाकर व्याज खा सकता है।

रूसी क्रांतिके प्रारम्भमें इतनी विषमता नहीं थी, क्रांतिकारियोंकी इच्छा भी नहीं थी कि ऐसी विषमता आये। पर अनुभवने, मानव प्रकृतिने, परिस्थितियोंकी विवशताने इस प्रकारके अन्तर पैदा करा दिये। निःसन्देह यह विषमता भारतसे बहुत कम है। रूसमें जब यह एक और सोलहके बीचमें हैं तब भारतमें वह एक और चारसौ के बीचमें है। यहां किसीको पच्चीस रुपया महीना मिलता है तो किसीको दस हजार रुपया महीना। यह तो राजकीय क्षेत्रका अन्तर है। आर्थिक क्षेत्रमें यह विषमता और भी अधिक है। क्योंकि अनेक श्रीमानोंको लाखोंकी आमदनी है। रूसने विषमताको काफी सीमित और न्यायोचित रक्खा है पर विषमताकी अनिवार्यता वहां भी है। अतिसमता वहां भी अव्यवहार्य मानी गई है।

अतिसमतासे हानियां

बहुतसे वामपक्षी लोग और बहुतसे सर्वोदयवादी लोग जिस प्रकार अति समताकीबात करते हैं या दुहाई देते हैं उसे अगर व्यवहारमें लानेकी कोशिश की जाय तो वह अव्यहार्य साबित होगी और अन्यायपूर्ण भी होगी इससे देशका घोर विनाश होगा।

१—एक आदमी अधिक श्रम करता है और दूसरा कमसे कम श्रम करता है, यदि दोनोंको श्रमके अनुरूप बदला न दिया जाय, अर्थात् दोनोंको बराबर दिया जाय तो अधिक श्रम करने वाला अधिक श्रम करना बन्द कर देगा, उसे श्रममें उत्साह न रहेगा। इस प्रकार देशमें श्रम रहते हुए भी श्रमका अकाल पड़ जायगा। उत्पादन क्षीण हो जायगा।

किसी कामकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये वर्षों तपस्या करना पड़ता है, और किसीके लिये नाममात्रकी तपस्या करनी पड़ती है, प्रिन्सिपल बननेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये आधी जिन्दगी निकल जायगी और चपरासी बनने के लिये मामूली पढ़ना लिखना ही काफ़ी होगा। दोनोंका मूल्य बराबर हो तो प्रिन्सपल और प्रोफेसर तैयार ही न हों। इसी प्रकार इंजीनियर और मामूली मजदूर, वैज्ञानिक और विज्ञान-शाला में झाड़ू देने वाला आदिके बारे में भी होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३—विशेष मानसिक काम करने वाले और साधारण शारीरिक काम करनेवाले यदि समान सुविधा पायें तो मानसिक श्रम क्षीण होगा। मानसिक श्रमका काम करनेवालेको पाव भर घी की जरूरत होगी और शारीरिक श्रम करनेवालेका काम आध पाव घी से चल जल जायगा। दोनोंको बराबर दिया जाय तो मानसिक श्रमवाला उचित श्रम न कर पायगा।

४—एक आदमी पूरी जिम्मेदारीसे काम करता है, चारों तरफ नजर रखता है, दिनरात चिन्ता करता है, दूसरेको ऐसी जिम्मेदारीसे कोई मतलब नहीं। दोनोंको पारिश्रमिक दिया जाय तो जिम्मेदारी रखनेवाला उस तरफ ध्यान न देगा। इस प्रकार कामकी सारी व्यवस्था बिगड़ जायगी।

५—एक आदमीमें अपने क्षेत्रमें काम करनेके लिये असाधारण प्रतिभा है, असाधारण स्वर या सुन्दरता है, असाधारण शक्ति है, असाधारण कला है, इनका असाधारण मूल्य यदि न दिया जाय तो इन गुणोंका उपयोग करनेके लिये उन गुणवालोंका उत्साह ही मर जायगा। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव ऐसा पड़ेगा कि इनका सदुपयोग करनेके लिये जो थोड़ी बहुत साधना करनेकी जरूरत है वह साधना भी मिट जायगी।

६—अतिसमता का सारे समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। सारा समाज दुःखी अशान्त निकम्मा और झगड़ालू हो जायगा। कामका या अपने मूल्यका विवेक किसीमें न रहेगा। हर आदमी को यही चिन्ता रहेगी कि मुझे बराबर मिलता है या नहीं? दूसरोंको क्या मिला और मुझे क्या मिला इसी पर नजर रखने और चिन्ता करनेमें और झगड़नेमें हर एककी शक्ति बर्बाद होगी। विशेष योग्यतावाले विशेष काम न करेंगे और हीन योग्यतावाले बराबरीके लिये दिनरात लड़ेंगे, थोड़ासा अन्तर रहेगा तो असन्तुष्ट होकर चोरी करेंगे, बदमाशी करेंगे, कृतघ्नताका परिचय देंगे विनय की हत्या करेंगे। इस प्रकार सारा समाज अनुत्साह, ईर्ष्या, खेद, मुफ्तखोरी, चोरी, अविनय, आलस्य, कृतघ्नता, कलह, अयोग्यता, असाधना, आदिसे भर जायगा, उत्पादन चौपट हो जायगा, अव्यवस्था असीम हो जायेगी।

अतिसमता जितनी मात्रामें होगी ये दोष भी उतनी मात्रामें होंगे। इस प्रकार अतिसमता अर्थात् अन्याय्य समता सर्वनाशका मार्ग है।

अतिविषमतासे हानियां

अतिविषमताकी हानियोंसे हम परिचित ही हैं। हालांकि ये हानियां अतिसमताके बराबर नहीं हैं फिर भी काफी हैं।

एक आदमीको गुणी सेवक होते हुए भी जब निर्गुण असेवकोंसे कम मिलता है तब उसके साथ अन्याय होता है। इससे उसका ध्यान गुण बढ़ाने और सेवा करनेसे हटकर उन चालाकियोंकी तरफ चला जाता है जिनसे अधिक धन खींचा जा सके। एक भी चालाक बदमाश आदमी जब धनी बन जाता है तब यह कहना चाहिये कि वह सौ गुणी और सेवकों की हत्या करता है। अर्थात् उसे देखकर सौ गुणी और सेवक व्यक्ति गुण सेवाके सन्मार्गसे भ्रष्ट होकर चालाक बदमाश बननेकी कोशिश करने लगते हैं। भले ही वे सफल हों या न हों।

समाजमें जो बेकारी है, एक तरफ काम पड़ा है दूसरी तरफ सामग्री पड़ी है तीसरी तरफ काम करनेवाले बेकार बैठे हैं, यह सब अतिविषमताका परिणाम है। इस प्रकार यह अति-विषमता भी काफी हानिप्रद है।

हमें अतिसमता और अतिविषमताको छोड़कर निरतिवादी समताकी योजना बनाना चाहिये। उसके सूत्र ये हैं।

१—हर एक व्यक्तिको भोजन वस्त्र और निवासकी उचित सुविधा मिलना ही चाहिये। हां, इस सुविधाकी जिम्मेदारी उन्हींकी ली जा सकती है जो समाजके लिये उपयोगी कार्य उचित मात्रामें करनेको तैयार हों।

२—देशमें बेकारी न रहना चाहिये। देशव्यापी एक ऐसी योजना होना चाहिये जिससे हर एक व्यक्तिको काममें लगाया जा सके।

३—न्यायोचित या समाजमान्य तरीकेसे जिसने जो सम्पत्ति उपार्जित की है उस पर उसकी मालिकी रहना चाहिये। बिना मुवावजे की वह सम्पत्ति उससे ली न जा सके।

४—साधारणतः ठीक आमदनी होने पर भी जो अपव्ययी या विलासी होनेसे कुछ भी सम्पत्ति नहीं जोड़ पाता उसकी गरीबीको दयनीय न मानना चाहिये।

५—निम्नलिखित आठ कारणोंसे पारिश्रमिक या पुरस्कार अधिक देना चाहिये। (१) गुण (२) साधना *(३) श्रम (४) सहसाधन (५) कष्ट संकट (६) उत्पादन* (७) उत्तरदायित्व (८) दुर्लभता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) गुण—प्रतिभा, सुन्दरता, शारीरिक शक्ति, आदि जन्मजात गुण जिले कार्यमें अपनी विशेष उपयोगिता रखते हों उस कार्यमें इनके कारण विशेष पारिश्रमिक मिलना चाहिये। उदाहरणके लिये साहित्य निर्माणमें, शासनमें, प्रबन्धमें, शिक्षणमें प्रतिभाका विशेष मूल्य है। सिनेमा आदिमें सुन्दरताका मूल्य है । सेना पुलिस या शारीरिक मजदूरीके क्षेत्रमें शारीरिक शक्तिका मूल्य है । इन क्षेत्रोंमें इन गुणों पर विशेष पारिश्रमिक मिलना चाहिये।

(२) साधना—किसी कामको करनेकी योग्यता प्राप्त करनेमें कितने दिन कैसी साधना करना पड़ेगी इस परसे उसका मूल्य निर्धारित करना पड़ता है। जैसे एक क्लर्क बनने के लिये जितनी साधनाकी जरूरत है उससे कई गुणी साधनाकी जरूरत एक प्रोफेसर, लेखक, कवि या सम्पादक बननेमें है। इसलिये क्लर्ककी अपेक्षा इनके कार्यका मूल्य अधिक होगा।

(३) श्रम—जिस काममें जितना अधिक श्रम करना पड़ता है उसका मूल्य उतना ही अधिक होता है। सब कार्योंमें शारीरिक श्रम बराबर नहीं होता और शारीरिक कार्योंकी अपेक्षा वाचनिक और मानसिक कार्योंमें श्रम अधिक होता है। एक आदमी आठ घंटे घास खोदनेका काम वर्षों कर सकता है। पर चार घंटे व्याख्यान देने का काम बहुत दिन नहीं कर सकता, उसका गला बैठ जायगा दिमागी काम तो और भी कठिन है। शरीरको एक काम में भिड़ाये रखनेकी अपेक्षा मनको एक काममें भिड़ाये रखना काफी कठिन है। शरीरको स्थिर रखनेकी अपेक्षा मनको स्थिर रखना काफी कठिन है। इसलिये मानसिक श्रमका मूल्य अधिक है।

(४) सहसाधन—किसी कामको करनेमें जितने अधिक सहसाधनोंकी जरूरत होगी उसका मूल्य उतना अधिक होगा। दर्जीको सिलाईके काममें एक मशीनकी जरूरत है, तो इस साधनके कारण भी उसके श्रमका मूल्य बढ़ जाता है। इसी तरह विशेष दिमागी कार्य करनेके लिये ठण्डे वातावरणमें रहना, घी आदि विशेष तरावटी चीजें खाना आदि सहसाधन हैं। एक अभिनेत्रीको अपनी सुन्दरता बनाये रखना, हजारों प्रशंसकोंके पत्र आते हैं। उनको पढ़नेके लिये प्राइवेट सेक्रेटरी रखना आदि सहसाधन हैं, धनकी पूंजी भी सहसाधन है।

इन कारणों से विशेष पारिश्रमिक देना जरूरी है। गाँवोंकी अपेक्षा नगर या महानगरमें सहसाधनोंकी ज्यादा जरूरत पड़ती है, महँगाई भी होती है इसलिये गांवकी अपेक्षा शहरका पारिश्रामिक अधिक होता है।

(५) कष्ट संकट—किसी काममें विशेष कष्ट हो, विशेष संकट हो तो उसके कारण उसका मूल्य बढ़ जाता है। साधारण मजदूरकी अपेक्षा कोयले आदिकी खदानमें काम करनेमें कष्ट और संकट अधिक है। हवाई जहाज चलानेमें संकट अधिक है शारीरिक श्रमकी अपेक्षा वचन या मनके कार्यमें कष्ट अधिक है। इसलिये इनका मूल्य बढ़ जाता है।

(६) उत्पादन—जो इस तरीकेसे काम करे कि अधिक या अच्छा उत्पादन कर सके तो उसकी इस कलाका मूल्य अधिक होगा। जो अच्छा चित्र बना सकता है, अच्छी मूर्त्ति गढ़ सकता है, अच्छा लेख लिख सकता है उसका पारिश्रामिक अधिक होगा। इसी प्रकार जो परिमाणमें ज्यादा उत्पादन कर सकता है उसका मूल्य भी अधिक होगा।

(७) जिम्मेदारी—जिम्मेदारीका भी मूल्य होता है। एक आदमीको अमुक समय काम करनेके बाद उसके हानि लाभसे कोई मतलब नहीं, दूसरेको हर समय हानि लाभका विचार रखना पड़ता है उसकी चिंता करनी पड़ती है। मैनेजरको जितना ध्यान रखना पड़ता है उतना साधारण मजदूर या क्लर्क को नहीं रखना पड़ता। इसलिये मैनेजरका मूल्य अधिक होगा।

(८) दुर्लभता—जिस कामको करने वाले मुश्किलसे मिलते हैं उनकी भी कीमत बढ़ती है । तीर्थंकर पैगम्बर महाकवि, महान वैज्ञानिक, महान दार्शनिक, महान नेता, महान लेखक, महान कलाकार आदि काफी दुर्लभ होते हैं इसलिये इनकी कीमत काफी अधिक होती है । आर्थिक दृष्टिसे तो इनकी कीमत चुकाना अशक्य होता है इसलिये इनकी ज्यादतर कीमत यश प्रतिष्ठाके द्वारा चुकाना पड़ती है। पर इनके सिवाय साधारण क्षेत्रमें भी दुर्लभताका असर पड़ता है। पहिले मैट्रिक पास व्यक्ति भी बड़ा दुर्लभ था इसलिये उसकी भी काफी कीमत थी, अब बी. ए., एम. ए. भी हजारों लाखोंकी संख्यामें सुलभ हैं इसलिये उनकी भी कीमत काफी घट गई है। बाजारमें जिस चीज़ की जितनी मांग होती है उससे अधिक चीज आ जाय तो उसकी कीमत गिर जाती है उसी प्रकार आदमीके बारे में भी है।

हाँ! समाजको ऐसी व्यवस्था करना चाहिये कि असाधारण महामानवोंको छोड़कर साधारण क्षेत्रमें अतिदुर्लभता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण किसीकी कीमत मूल्यसे अधिक न होने पाये और अति सुलभताके कारण किसीकी कीमत मूल्यसे गिरने न पाये।

मूल्यका निर्णय वस्तुकी उपयोगिता तथा इस प्रकरणमें बताये गये आठ कारणोंमें से प्रारम्भके सात कारणोंके आधारपर करना पड़ता है और कीमतके निर्णयमें दुर्लभता सुलभता आदमीकी गरजका भी असर पड़ जाता है। मूल्यमें उसकी सामग्रीका विचार है, कीमतमें सिर्फ उसके बाजारू विनिमयका विचार है। उदाहरणके लिये उपयोगिता की दृष्टिसे पानी काफी मूल्यवान है पर सुलभताके कारण उसकी कीमत कुछ नहीं है। सोने चांदीकी अपेक्षा अन्न अधिक मूल्यवान है पर दुर्लभताके कारण सोने चाँदीकी कीमत ज़्यादा है। कहीं-कहीं मूल्य और कीमतका अन्तर यों भी समझा जा सकता है कि मूल्य बताता है कि इसकी विनिमयकी मात्रा कितनी होना चाहिए, कीमत बताती है कि इसकी विनिमय की मात्रा कितनी है। चाहिये और है का फर्क भी कहीं कहीं इन दोनोंका फर्क बन जाता है। मनुष्येतर वस्तुओंमें यह फर्क थोड़ी बहुत मात्रामें बना रहे तो बना रहे पर मनुष्यके बारेमें यह अन्तर न रहना चाहिये। समाजको शिक्षण तथा बाजारमें सामञ्जस्य रखना चाहिये। असाधारण महामानवों की बात दूसरी है क्योंकि आर्थिक दृष्टिसे उनकी ठीक कीमत प्रायः चुकाई नहीं जाती।

खैर ! ये आठ कारण हैं जिनसे पारिश्रमिक या पुरस्कार अधिक देना चाहिये।

एक ही कारणसे विनिमयकी दर बढ़ जाती हैं। जहाँ जितने अधिक कारण होंगे वहां विनिमयकी दर उतनी ही अधिक होगी। यदि अतिसमताके कारण इनकी विशेष कीमत न चुकाई जायगी तो इन विशेषताओंका नाश होगा और मिलना अशक्य होगा। इस प्रकार अतिसमता हर तरह अनुचित है। वह अन्यायपूर्ण भी है और अव्यावहारिक भी।

६—अतिविषमता रोकनेके लिये प्रारम्भके दो नियम पाले जाने चाहिये, साथ ही विनिमय क्षेत्र में अन्तरकी सीमा निश्चित कर देना चाहिये। हां ! उसमें देशकालका विचार जरूर करना चाहिये। साधारणतः भारतकी वर्तमान परिस्थिति के अनुसार यह अन्तर एक और पचाससे अधिक न होना चाहिए। यदि साधारण चपरासीको ३०) मासिक मिलता है तो प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपतिको इससे पचासगुणे १५००) से अधिक न मिलना चाहिए।

७—उपार्जित सम्पत्तिके संग्रह करने पर अंकुश रहना चाहिए। पूंजीके रूपमें अधिक सम्पत्ति न रहना चाहिए, भोगोपभोगकी सामग्रीके रूपमें रहना चाहिए। जो आदमी रुपया आदि जोड़ता चला जाता है वह भोगोपभोगकी चीजें कम खरीदता है इससे उन चीजोंकी खपत घट जाती है और खपत घटजानेसे उन चीजों को तैयार करने वालोंमें बेकारी बढ़ जाती है। इसलिए व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि लोग जो पायें उसे या उसका अधिकांश भोग डालें। अमुक हिस्सा संकटके समयके लिए सुरक्षित रक्खें, जिससे संकटमें उधार न लेना पड़े।

फिर भी यदि कोई पूंजीके रूपमें या रुपयाके रूपमें अधिक संग्रह करले तो उसका फर्ज है कि वह अपनी बचतका बहुभाग सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमें दान कर जाय या मृत्युकर द्वारा उससे ले लिया जाय।

इस नियमसे अतिविषमतापर काफी अंकुश पड़ेगा।

अतिसमताके आसमानी गीत गाना स्वरपर वञ्चनाके सिवाय कुछ नहीं है और अतिविषमता चालू रखना इन्सान को हैवान और शैतान मेंबांट देना है, इसलिए निरतिवादी समताका ही प्रचार होना चाहिए। —संगम से

मेरीभावनाका नया संस्करण

'मेरीभावना' एक राष्ट्रीय कविता है जिसका पाठ करना प्रत्येक व्यक्तिको अपने मानव जीवनको ऊँचा उठानेके लिए अत्यन्त आवश्यक है। वीरसेवामन्दिरसे उसका अभी हालमें संशोधित नया संस्करण प्रकाशित हुआ है। जो अच्छे कागज पर छपा है। बांटने या थोक खरीदने वालोंको ५) सैकड़ाके हिसाबसे दिया जाता है। एक प्रतिका मूल्य एक आना है। आर्डर देकर अनुग्रहीत करें।

मैनेजर—वीरसेवा-मन्दिर ग्रंथमाला
१ दरियागंज, दिल्ली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काक-पिक-परीक्षा

(पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री)

काक (कौआ) और पिक (कोयल) दोनों तिर्यंगगतिके पंख वाले प्राणी हैं, दोनों ही काले हैं और दोनोंका आकार-प्रकार भी प्रायः एकसा ही है। कहा जाता है कि दोनोंके अंडोंका रूप-रंग और आकार एक ही होता है और इसलिए काकी भ्रमसे कोयलके अंडेको अपना अंडा समझ कर पालने लगती है। समय पर अंडा फूटता है और उसमेंसे बच्चा निकलता है, तो काकी उसे भी अपना बच्चा समझकर पालती-पोषती है और चुगा-चुगाकर उसे बड़ा करती है। धीरे-धीरे जब वह बोलने लायक हो जाता है, तो काक उसे अपनी बोली सिखानेकी कोशिश करता है। पर कोयल तो वसन्त ऋतुके सिवाय अन्य मौसममें प्रायः कुछ बोलती नहीं है, अतएव कौआ उसके न बोलने पर झुंझलाता है और बार-बार चोंचें मार-मारकर उसे बुलानेका प्रयत्न करते हुए भी सफलता नहीं पाता, तो बच्चेको गूंगा समझकर अपने दिलमें बड़ा दुखी होता है! फिर भी वह हताश नहीं होता और उसे बुलानेका प्रयत्न जारी रखता है। इतनेमें वसन्तका समय आ जाता है, आम्रकी नव मंजरी खाकर उसका कंठ खुल जाता है। कौआ सदाकी भांति उसे अब भी 'कांव-कांव' का पाठ पढ़ाता है। पर वह कोयलका बच्चा अपने स्वभावके अनुसार 'कांव-कांव' न बोलकर 'कुहू-कुहू' बोलता है। कौआ यह सुनकर चकित होता है और यह बच्चा तो 'कपूत' निकला, ऐसा विचार कर उसका परित्याग कर देता है।

कौएके द्वारा इतने लम्बे समय तक पाले-पोषे जानेके कारण कोयलको 'पर-भृत' भी कहते हैं।

काक और कोयलकी समताको देख कर सहज ही प्रश्न उठता है कि फिर इन दोनोंमें क्या अन्तर है? किसी संस्कृत कविके हृदयमें भी यह प्रश्न उठा और उसे यह समाधान भी मिलाः—

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः, को भेदः पिक-काकयोः।
वसन्तकाले सम्प्राप्ते, काकः काकः पिकः पिकः॥

अर्थात्—काक भी काला है और कोयल भी काली है, फिर काक और कोयलमें क्या भेद है? इस प्रश्नके उत्तरमें कवि कहता है—वसन्तऋतुके आने पर इन दोनोंका भेद दिखाई देता है, उस समय कोयलकी बोली तो लोगोंके मनको मोहित कर लेती है और कौएकी बोली अपने प्रति सबके दिलमें घृणा पैदा कर देती है। उस समय काककी कटुता और पिककी प्रियताका पता चलता है। तुलसीदास जीने बहुत ही ठीक कहा हैः—

कागा काको लेत है, कोयल काको देत।
तुलसी मीठे वचनसों, जग अपनो कर लेत॥

इस विवेचनका सार यह है कि काक और पिकमें बोलीका एक मौलिक या स्वाभाविक अन्तर है, जो दोनोंके भेदको स्पष्ट प्रगट करता है। इस अन्तरके अतिरिक्त दोनोंमें एक मौलिक अन्तर और है और वह यह कि कौएकी नजर सदा मैले पदार्थ—विष्ठा, मांस, थूक आदि पर रहेगी। उसे यदि एक ओर अन्नका ढेर दिखाई दे और दूसरी ओर विष्ठामें पड़े अन्नके दाने; तो वह जाकर विष्ठाके दानों पर ही चोंच मारेगा, अन्नके ढेर पर नहीं। इसी प्रकार घी और नाकका मल एक साथ दिखाई देने पर भी वह नाकके मल पर पहुँचेगा, घी पर नहीं। कौएकी दृष्टि सदा अपवित्र गन्दी और मैली चीजों पर ही पड़ेगी। पर कोयलका स्वभाव ठीक इसके बिल्कुल विपरीत होता है। वह कभी मैले और गन्दे पदार्थोंको खाना तो दूर रहा, उन पर नज़र भी नहीं डालती, न कभी गंदे स्थानों पर ही बैठती है। जब भी बैठेगी—वृक्षोंकी ऊँची शाखाओं पर ही बैठेगी और उनके नव, कोमल पल्लवों और पुष्पोंको ही खायगी। काककी मनोवृत्ति अस्थिर और दृष्टि चंचल रहती है, पर कोयलकी मनोवृत्ति और दृष्टि स्थिर रहती है। इस प्रकार काक और कोयलमें खान-पान, बोली, मनोवृत्ति और दृष्टि सम्बन्धी तीन मौलिक अन्तर हैं।

शंका—तिर्यंगगतिका जीव तथा आकार-प्रकारकी एकसमता होने पर भी दोनोंमें उपर्युक्त तीन मौलिक विषमताएं उत्पन्न होनेका क्या कारण है?

समाधान—तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेका कारण मायाचार अर्थात् छल-कपटरूप प्रवृत्ति बतलाई गई है। जो जीव इस भवमें दूसरोंको धोखा देनेके लिए कहते कुछ और हैं, करते कुछ और हैं, तथा मनमें कुछ और ही रखते हैं, वे आगामी भवमें तीर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं। इस आगम-नियमके अनुसार जब हम काक और पिकके पूर्वभवोंके कृत्यों पर विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उन दोनोंके तिर्यंचोंमें उत्पन्न करानेका कारण मायाचार एकसा रहा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, इस लिए दोनों तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए। तिर्यंचोंमें भी प्रधानतः दो जातियां हैं—पशु जाति और पक्षी जाति। जो केवल उदर-पूर्तिके लिये मायाचार करते हैं, मेरा मायाचार प्रगट न हो जाय, इस भयसे सदा शंकित-चित्त रहते हैं, मायाचार करके तुरन्त नौ-दो ग्यारह हो जाते हैं, या भागनेकी फ़िक्रमें रहते है, वे पक्षी जातिके जीवोंमें उत्पन्न होते हैं। जो उदर-पूर्तिके अतिरिक्त समाजमें बड़ा बनने, लोकमें प्रतिष्ठा पाने और धन उपार्जन करने आदिके लिए मायाचार करते हैं, वे पशुजातिके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं। तदनुसार काक और कोयलके जीवोंने अपने पूर्वभवोंमें एकसा मायाचार किया है, अतः इस भवमें एकसा रूप रङ्ग और आकार प्रकार पाया है। परन्तु उन दोनोंके जीवोंमेंसे जिसका जीव मायाचार करते हुए भी दूसरोंके दोषों ऐबों और अवगुणों पर ही सतर्क और चंचल दृष्टि रखता था, अखाद्य वस्तुओंको खाया करता था, तथा बातचीतमें हर एकके साथ समय-असमय कांव-कांव(व्यर्थ बकवाद)किया करता था वह तदनुकूल संस्कारोंके कारण काककी पर्यायमें उत्पन्न हुआ। किन्तु जो जीव काकके जीवके समान मायाचार करते हुए भी दूसरोंके दोषों, ऐबों और अवगुणों पर नज़र न रखकर गुणों और भलाइयों पर नज़र रखता था, स्थिर मनोवृत्ति और अचंचल दृष्टि था, अखाद्य और लोकनिंद्य पदार्थोंको नहीं खाता था और लोगोंके साथ बातचीतके समय हित, मित और प्रिय बोलता था, वह उस प्रकारके संस्कारोंके कारण कोयलकी पर्यायमें उत्पन्न हुआ, जहां वह स्वभावतः ही मीठी बोली बोलता है, असमयमें नहीं बोलता, ऊंची जगह बैठता है और उत्तम ही खान-पान रखता है। पूर्वभवमें बीज रूपसे बोये गये संस्कार इस भवमें अपने-अपने अनुरूप वृक्षरूपसे अंकुरित पुष्पित और फलित हो रहे हैं। कौएमें जो बुरापन और बोली की कटुता, तथा कोयलमें जो भलापन और बोलीकी मिष्टता आज दृष्टिगोचर हो रही है, वह इस जन्मके उपार्जित संस्कारोंका फल नहीं, किन्तु पूर्वजन्मके उपार्जित संस्कारोंका ही फल है।

हमें काकवृत्ति छोड़कर दैनिक व्यवहारमें पिकके समान मधुर और मितभाषी होना चाहिए।

विश्वकी अशान्तिको दूर करनेके उपाय

(परमानन्द जैन शास्त्री)

विश्व-अशान्तिके कारण

आजके इस भौतिक युगमें सर्वत्र अशान्ति ही अशांति दृष्टि गोचर हो रही है। संसारका प्रत्येक मानव सुख-शांतिका इच्छुक है, परन्तु वह घबराया हुआ-सा दृष्टिगोचर होता है। उसकी इस अशान्तिका कारण इच्छाओंका अनियन्त्रण, अर्थप्राप्ति, साम्राज्यवादकी लिप्सा, भोगाकांक्षा और यश प्रतिष्ठा आदि हैं। संसार विनाशकारी उस भीषण युद्धकी विभीषिकासे ऊब गया है। एटमबम और उद्जनबमसे भी अधिक विनाशकारी अस्त्र शस्त्रोंके निर्माणकी चर्चा उसकी आन्तरिक शान्तिको खोखला कर रही है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको निगल जाने, उनकी स्वतन्त्रतामें बाधा डालने अथवा हड़प जानेके लिये तय्यार है। एक देश दूसरे देशकी श्री और धन-सम्पत्ति पर अपना अधिकार कर अपना प्रभुत्व चाहता है, इतना ही नहीं किन्तु उन देशवासियोंको पराधीन एवं गुलाम बनाना चाहता है। विनाशकारी उन अस्त्र-शस्त्रोंकी चका-चौंधमें वह अपनी कर्तव्यनिष्ठा और न्याय अन्यायकी समतुलाको खो बैठता है, वह साम्राज्यवादकी झूठी लिप्सामें राजनीतिके अनेक दाव-पेंच खेल कर अपनेको समुन्नत सुखी एवं समृद्ध देखना चाहता है और दूसरेको अविनत-गुलाम निर्धन एवं दुखी, राष्ट्र और देशोंकी बात जाने दीजिये। मानव-मानवके बीच परिग्रहकी अनन्ततृष्णा और स्वार्थ तत्परताके कारण गहरी खाई हो गई है, उनमेंसे कुछ लोग तो अपनेको सर्व प्रकारसे सुखी और समुन्नत देखना चाहते हैं और दूसरेको निर्धन एवं दुखी। दूसरेकी सम्पत्ति पर कब्जा करना चाहता है। और उसे संसारसे प्रायः समाप्त करनेकी भावना भी रखता है इस प्रकारकी दुर्भावनाएं ही नहीं हैं किन्तु इस प्रकारकी अनेकों घटनाएं भी घटित हो रही हैं जो अशान्तिकी जनक हैं और अहिंसाधर्मसे पराङ्मुख होनेका स्पष्ट संकेत करती हैं। इसी कारण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसारका प्रत्येक देश विविध उपायोंसे अपनी शक्तिको संचित करने और एक दूसरेको नीचा दिखानेमें लगे हुए हैं। इस तरह प्रत्येक देशकी खुदगर्जी (स्वार्थ तत्परता) ही उन्हें पनपने नहीं दे रही हैं। और संसारके सभी मानव आगत युद्धकी उस भयानक विभीषिकासे सन्त्रस्त हो रहे हैं—भयभीत हैं अशान्त और उद्विग्न हैं : वे शान्तिके इच्छुक होते हुए भी बेचैन हैं; क्योंकि उनके सामने एटमबमसे होने वाले हिरोशिमाके विनाशक परिणाम सामने दिख रहे हैं। भौतिक अस्त्र शस्त्रोंका निर्माण एवं संग्रह उनकी उस विनाशसे रक्षा करनेमें नितान्त असमर्थ है।

युद्धसे कभी शान्ति नहीं मिलती प्रत्युत अशान्ति भुखमरी एवं निर्धनता (गरीबी) तथा बेकारी बढ़ती है इससे मानव परिचित है और युद्धोत्तर कठिनाइयोंको भोग कर अनुभव भी प्राप्त कर चुका है। अतः युद्ध किसी तरह भी शान्तिका प्रतीक नहीं हो सकता। तो फिर उक्त अशांतिके दूर करनेका क्या उपाय है ?

अशान्तिके दूर करनेका उपाय अहिंसा

विश्वकी इस अशान्तिको दूर करनेका एक ही अमोघ उपाय है और वह है अहिंसा। यही एक ऐसा शस्त्र है जिस पर चलनेसे प्रत्येक मानव अपनी सुरक्षाकी गारन्टी कर सकता है और अपनी आन्तरिक अशान्तिको दूर करनेमें समर्थ हो सकता है। जब तक मानव मानवताके रहस्यसे अपरिचित रहेगा अर्थसंग्रह अथवा परिग्रहकी अपार तृष्णारूपी दाहसे अपनेको जलाता रहेगा तब तक वह अहिंसाकी उस महत्तासे केवल अपरिचित ही नहीं रहेगा किन्तु विश्वकी उस अशान्तिसे अपनेको संरक्षित करनेमें सर्वथा असमर्थ रहेगा। अहिंसा जीवन-प्रदायनी शक्ति है यह अहिंसाको ही महत्ता है जो हम समष्टिरूपसे एक स्थानमें बैठ सकते हैं, एक दूसरेके विचारोंको सुन सकते हैं, एक दूसरेके सुख दुःखमें काम आते हैं, उनमें प्रेमभावकी वृद्धि करनेमें समर्थ हो सकते हैं। यदि अहिंसा हमारा स्वाभाविक धर्म न होता तो हम कभी समष्टिमें एक स्थान पर प्रेमसे बैठ भी नहीं सकते, विचार सहिष्णुता होना तो दूरकी बात है। हम कभी-कभी दूसरेके वचनोंको सुनकर आग-बबूला हो जाते हैं अशान्त होकर अपने सन्तुलनको खोकर असहिष्णु बन जाते हैं, यह हमारी ही कमजोरी है, कायरता है, पाप है, हिंसा है। इस पापसे छुटकारा अहिंसाके विना नहीं हो सकता।

अहिंसा आत्माका गुण है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति वीर पुरुषमें होती है, कायरमें नहीं; क्योंकि वह आत्मघाति है, जहां वीरता और आत्म-निर्भयता है वहीं अहिंसा है। और जहां कायरता, बुजदिली एवं भयशीलता है वहां हिंसा है। कायरताके समान संसारमें अन्य कोई पाप नहीं है; क्योंकि वह पापोंको प्रश्रय अथवा आश्रय देती है। कायर मनुष्य मानवीय गुणोंसे भी वंचित रहता है, उसकी आत्मा हर समय डरपोक बनी रहती है और वह किसी एक विषयमें स्थिर नहीं हो पाता; उस पर दुःख और उद्वेग अपना अधिकार किये रहते हैं उसका स्वभाव एक प्रकारसे दब्बू हो जाता है वह दूसरोंकी कुत्सितवृत्तिके खिलाफ़ या उनके असद्व्यवहारके प्रतिपक्षमें कोई काम नहीं कर सकता, किन्तु वह हिचकता भयखाता और शंकाशील बना रहता है कि कहीं वह अमुक बुरे कार्यमें मेरा नाम न ले दे—मुझे ऐसे दुष्कर कार्यमें न फंसा दे, जिससे फिर निकलना बड़ी कठिनतासे हो सके, इस तरह उसकी भयावह आत्मा अत्यन्त निर्बल और दयनीय हो जाती है, वह हेयोपादेयके विज्ञानसे भी शून्य हो जाता है इन्हीं सब कारणोंसे कायरता दुर्गुणोंकी जनक है और मानवकी अत्यन्त शत्रु है। परन्तु अहिंसा वीर पुरुषकी आत्मा है अथवा वही बलवान् पुरुष उसका अनुष्ठान कर सकता है जिसकी दृष्टि विकार रहित समीचीन होती है उसमें कायरतादि दुर्गुण अपना प्रभाव अंकित करनेमें समर्थ नही हो पाते; क्योंकि उसके क्षमा, वीरता, निर्भयता और धीरतादि गुण प्रकट हो जाते हैं जिनके कारण उसकी दृष्टि विकृत नहीं हो पाती, वह कभी शंकाशील भी नहीं होता किन्तु निर्भय और सदा निःशंक बना रहता है। उसमें दूसरोंके दोषोंको क्षमा करने अथवा पचानेकी क्षमता एवं सामर्थ्य होती है। वह आत्म-प्रशंसा और पर छिद्रान्वेषण की वृत्तिसे रहित होता है, और अपनेको निरन्तर क्रोधादिदोषोंसे संरक्षित रखनेका प्रयत्न करता रहता है, उसकी निर्मल परिणति ही अहिंसाकी जनक है।

भगवान महावीरने आजसे ढाई हजार वर्ष पहले मानव जीवनकी कमजोरियों, अपरिमित इच्छाओं—अभीष्ट परिग्रहकी सम्प्राप्तिरूप आशाओं—और मानवता-शून्य अनुदार विचारों आदिसे समुत्पन्न उन भयानक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिस्थितियोंका विचार कर जगतकी इस वेदनाको और उनके अपरिमित दुःखोंसे छुटकारा दिलानेके लिए अहिंसा-का उपदेश दिया, इतना ही नहीं किन्तु स्वयं उसे जीवनमें उतार कर—अहिंसक बन कर और अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर लोकमें अहिंसाका वह आदर्श हमारे सामने रक्खा है। भगवान महावीरकी इस देनका भारत-की तत्कालीन संस्कृतियों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वे अहिंसा धर्मको अपनाने ही नहीं लगीं प्रत्युत उसको उन्होंने अपने-अपने धर्मका अंग भी बनानेका यत्न किया है। भगवान महावीरने अहिंसाके साथ अपरिग्रहवाद, कर्मवाद और साम्यवादका भी अनुपम पाठ पढ़ाया था। उनके ये चारों ही सिद्धान्त प्रत्येक मानवके लिए कसौटी है। उन पर चलनेसे जीवमात्रको अपार दुःखोंकी परतन्त्रतासे मुक्ति मिल जाती है, और वह सच्ची सुख-शान्तिका अनुभव कर सकता है।

महात्मा बुद्धने भी उसीका अनुसरण किया, परन्तु वे उसके सूक्ष्म रूपको नहीं अपना सके। उनके शासन-में मरे हुए जीवका मांस खाना वर्जित नहीं है। महात्मा-गांधीने महावीरकी अहिंसा और सत्यका शक्त्यनुसार आंशिक रूपमें अनुसरण कर लोकमें अहिंसाकी महत्ताको चमकानेका प्रयत्न किया और लोकमें महात्मा पन भी प्राप्त किया, उन्होंने अपने जीवनमें राजनीतिमें भी अहिंसाका सफल प्रयोग कर दिखाया। महावीरकी अहिंसा आध्यात्मिक है उसकी साधनामें जीवनका अन्तस्तत्त्व सन्निहित है, जब कि राजनीतिकी अहिंसाका आध्यात्मि-कतासे कोई खास सम्बन्ध नहीं है फिर भी वह नैतिकतासे दूर नहीं है।

अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठासे जब जाति विरोधी जीवों-का—सिंह बकरी, चूहा बिल्ली नकुल सर्प आदिका—बैर-विरोध शान्त हो जाता है तब मानव मानवके विरोधका अन्त हो जाना कोई आश्चर्य नहीं है। इसीसे धर्मके विविध संस्थापकोंने अहिंसाको अपनाया है और अपने-अपने धर्मग्रन्थोंमें उसके स्थूल स्वरूपकी चर्चा कर उसकी महत्ताको स्वीकार किया है। अस्तु, यदि हम विश्वमें शान्तिसे रहना चाहते हैं तो हमारा परम कर्तव्य है कि हम अशान्तिके कारणोंका परित्याग करें—अपनी इच्छाओंका नियन्त्रण करें, अपरिग्रह और साम्यवादका आश्रय लें, अर्थसंग्रह, साम्राज्यवादकी लिप्सा और अपनी यश प्रतिष्ठादिके मोहका संवरण करते हुए अपने विचारों-को समुदार बनावें, और अहिंसाके दृष्टिकोणको पूर्णतया पालन करते हुए ऐसा कोई भी व्यवहार न करें जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे। तभी हम युद्धकी विभीषिकासे बच सकते हैं। उस अशान्तिसे एकमात्र अहिंसा ही हमारा उद्धार कर सकती है। और हमें सुखी तथा समृद्ध बनाने में समर्थ है।

मौजमाबादके जैन शास्त्रभंडारमें उल्लेखनीय ग्रन्थ

श्रीकुमारश्रमण क्षुल्लक सिद्धिसागरजीका चतुर्मास इस वर्ष मौजमाबाद (जयपुर) में हो रहा है। आपने मेरी प्रेरणाको पाकर वहांके ग्रन्थभण्डारमें स्थित कुछ अप्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थोंकी सूची भेजी है जिसे पाठकों-की जानकारीके लिये प्रकाशित की जा रही हैं। इस सूची परसे स्पष्ट है कि राजस्थानके ग्रन्थ भण्डारोंमें अपभ्रंश और संस्कृत भाषाके अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ पूर्ण-अपूर्ण रूपमें विद्यमान हैं, जो अभी तक भी प्रकाशमें नहीं आ सके हैं। क्षुल्लकजी स्वयं विद्वान हैं और उन्हें इतिहास और साहित्यके प्रति अभिरुचि है, लिखने और टीकादि करनेका भी उत्साह है, अतएव वे जहाँ जाते हैं वहांके मन्दिरमें स्थित शास्त्रभण्डारको अवश्य देखते हैं और प्राप्त हुए कुछ खास ग्रन्थोंका नोट कर उनका संक्षिप्त परिचय भी कभी-कभी पत्रोंमें प्रकट कर देते हैं।

आज समाजमें मुनि, क्षुल्लक ब्रह्मचारी और अनेक त्यागीगण मौजूद हैं। यदि वे अपनी रुचिको जैनसाहित्य-के समुद्धारकी ओर लगानेका प्रयत्न करें जैसा कि श्वेतांबर मुनि कर रहे है तो जैनसाहित्यका उद्धार कार्य सहज ही सम्पन्न हो सकता है। आत्म-साधनके आवश्यक कार्योंके अतिरिक्त शास्त्रभण्डारोंमें ग्रन्थोंके अवलोकन करने उनकी सूची बनाने और अप्रकाशित महत्वके ग्रन्थोंको प्रकाशमें लाने की ओर प्रयत्न किया जाय तो समाजका महत्वपूर्ण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिकांश कार्य थोड़ेसे खर्चमें चल सकता है और उससे समाज बहुत सी दिक्कतोंसे भी बच सकता है। चतुर्मासमें त्यागीगण एक ही स्थान पर चार महीना व्यतीत करते हैं। यदि वे आत्मकल्याणके साथ जैनसंस्कृति और उसके साहित्यकी ओर अपनी रुचि व्यक्त करें तो उससे सेकड़ों प्राचीन ग्रन्थोंका पता चल सकता है और दीमक कीटकादिसे उनका संरक्षण भी हो सकता है। आशा है मुनि, क्षुल्लक ब्रह्मचारी और त्यागीगण साहित्यसेवाके इस पुनीत कार्यमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करेंगे।

खेद है आज समाजमें जिनवाणीके प्रति भारी उपेक्षा चल रही है उसकी ओर न धनिकोंका ध्यान है, न त्यागियोंका और न विद्वानोंका है। ऐसी स्थितिमें जिनवाणीका संरक्षण कैसे हो सकता है? आज हम जिनवाणीकी महत्ताका मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं और न उसकी सुरक्षाका ही प्रयत्न कर रहे हैं, यह बड़े भारी खेदका विषय है। समाजमें जिनवाणी माताकी भक्ति केवल हाथ जोड़ने अथवा नमस्कार करने तक सीमित है, जब कि जिनवाणी और जिनदेवमें कुछ भी अन्तर नहीं है—'नहि किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः'—जो जैनधर्मके गौरवके साथ हमारे उत्थान-पतनकी यथार्थ मार्गोपदेशिका है।

समाज मन्दिरोंमें चाँदी सोनेके उपकरण टाइल और संगमर्मरके फर्श लगवाने, नूतन मन्दिर बनवाने, मूर्ति-निर्माण, करने, वेदी प्रतिष्ठा और रथमहोत्सवादि कार्योंके सम्पादनमें लगे हुए हैं। जब कि दूसरी समाजें अपने शास्त्रोंकी सम्हालमें लाखों रुपया लगा रही हैं। एक बाल्मीकि रामायणके पाठ संशोधनके लिए साढ़े आठ लाख रुपये लगानेका समाचार भी नवभारतमें प्रकाशित हो चुका है। इतना सब होते हुए भी दिगम्बर समाजके नेतागणोंका ध्यान इस तरफ नहीं आ रहा है वे अब भी अर्थसंचय और अपारतृष्णाकी पूर्तिमें लगे हुए हैं। उनका जैनसाहित्यका इतिहास, जैन शब्दकोष, जैन ग्रन्थसूची आदि महत्त्वके कार्योंको सम्पन्न करानेकी ओर ध्यान भी नहीं है। ऐसी स्थितिमें जिनवाणीके संरक्षण उद्धार और प्रसारका भारी कार्य, जो बहु अर्थ व्ययको लिए हुए है कैसे सम्पन्न हो सकता है? आशा है समाजके नेतागण, और विद्वान तथा त्यागीगण अब भी इस दिशामें जागरुक होकर प्रयत्न करेंगे, तो यह कार्य किसी तरह सम्पन्न हो सकते हैं। क्षुल्लकसिद्धिसागरजीसे हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे जैनसाहित्यके समुद्धारमें और भी अधिक प्रयत्नशील होनेकी चेष्टा करेंगे।

क्षुल्लकजीने मौजमाबादके शास्त्रभण्डारकी जो सूची भेजी है इसके लिए हम उनके आभारी हैं। उस सूचीमें जिन अप्रकाशित महत्वपूर्ण अन्य ग्रन्थभण्डारोंमें अनुपलब्ध ग्रन्थोंके नाम जान पड़े उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है:—

१. नागकुमार चरित—यह ग्रन्थ संस्कृत भाषाका है और इसके कर्ता ब्रह्म नेमिदत्त हैं जो विक्रमकी १६वीं शताब्दीके विद्वान थे।

२. बुद्धिरसायन—इस ग्रन्थमें ३७१ दोहे हैं? पुरानी हिन्दीमें लिखे गये हैं। इसके कर्ता कवि जिनवर हैं दोहा आचरण-सम्बन्धि सुन्दर शिक्षाओंसे अलंकृत हैं। उसके आदि अन्तके दोहे नीचे दिये जाते हैं:—

पढम (पढमि) ओंकार बुह, भासइ जिणवरुदेउ।
भासइ···वेद पुराण सिरु, सिव सुहकारण हेउ ॥१॥
\+ \+ \+
पढत सुणंतहं जे वि णर, लिहवि लिहाइवि देइ।
ते सुह भुंजहिं विविह परि, जिणवरु एम भणेइ ॥३७१॥

यह गुच्छक सं० १५५१ का लिखा हुआ है जो त्रिभुवनकीर्ति नामके मुनिराजको समर्पण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उक्त संवत् से पूर्व बनाया गया है, कब बनाया गया? यह विचारणीय है।

३.—इस गुच्छकमें ६ ग्रन्थ हैं—' कोकिलापंचमीकथा २ मुकुट सप्तमीकथा, ३ दुधारसिकथा ४ आदित्यवारकथा, ५ तीनचउवीसीकथा, ६ पुष्पांजलिकथा ७ निर्दुखसप्तमीकथा, ८ निर्झरपंचमीकथा ६अनुप्रेक्षा। इन सब ग्रन्थोंके कर्ता ब्रह्म साधारण हैं जो भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। यह गुच्छक संवत् १५०८ का लिखा हुआ है, जिसकी पत्र संख्या २० है। जिससे मालूम होता है कि ये सब कथादि ग्रन्थ उक्त संवत् से पूर्वके रचे हुये हैं।

४. यदुचरिउ—(मुनिकामर) यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें रचा गया है। यह मुनि कनकामरकी दूसरी कृति जान पड़ती है परन्तु वह अपूर्ण है, इसके ४६ से ७० तक कुल २४ पत्र ही उपलब्ध हैं। शेष आदिके पत्र प्रयत्न करने पर शायद उक्त भंडारमें उपलब्ध हो जाँय, ऐसी सम्भावना है।

५. अजितपुराण—इस ग्रन्थमें जैनियोंके दूसरे तीर्थं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर अजितनाथका जीवन परिचय दिया हुआ है। जिसकी पत्र संख्या ७१ और १० संधियोंकी श्लोक संख्या २२०० श्लोक जितनी है। इस ग्रन्थके कर्ता कवि विजयसिंह हैं, परन्तु इनका परिचय मुझे अभी ज्ञात नहीं हो सका। यह ग्रंथ भव्य कामीरायके पुत्र देवपालके लिये लिखा गया है।

५. मार्गोपदेश श्रावकाचार—यह संकृत भाषाका साल संध्यात्मक ग्रन्थ है जिसकी पत्र संख्या १४ है, १२वाँ पत्र इसका अनुपलब्ध है, श्लोक संख्या ३११ है, जिनमेंसे ३७६ श्लोक मूलग्रन्थके हैं, शेष पद्य ग्रन्थकर्ताके परिचयको लिये हुए हैं इस ग्रन्थके कर्ता जिनदेव हैं। यह ग्रन्थ भट्टारक जिनचन्द्रके नामांकित किया हुआ है। ग्रन्थका मंगलपद्य निम्न प्रकार है:—

नत्वा वीरं त्रिभुवनगुरं देवराजाधिवंद्य,
कर्मारातिं जयति सकलां मूलसंघे दयालु।
ज्ञानैः कृत्वा निखिलजगतां तत्त्वमादीषु वेत्ता,
धर्माधर्मं कथयति इह भारते तीर्थराजः ॥१॥

६. अपभ्रंश कथा संग्रह—इसमें तीन कथायें दी हुई हैं जिनमें प्रथम कथा रोहिणी व्रत की है, जिसके कर्ता मुनि देवनंदी हैं। यह ग्रन्थ आमेर भंडारादिके गुच्छकोंमें भी है। दूसरी कथा, दुधारसिनरक उतारी नाम की है जिसके कर्ता विनयचन्द्र मुनि हैं। तीसरी कथा सुगन्ध दशमी नामकी है जिसके कर्ता सुप्रभाचार्य हैं।

७. योगप्रदीप—यह संस्कृत भाषाका ग्रन्थ है जिसके कर्ता संभवतः सोमदेव जान पड़ते हैं। इसका विशेष विचार ग्रंथ देख कर किया जा सकता है।

८. अज्ञात न्याय ग्रन्थ—यह न्याय शास्त्रका एक छोटा सा ग्रन्थ है जो परीक्षामुखके बादकी रचना है, रचना सरल और तर्कणा शैलीको लिये हुए है।

९. चौवीस ठाणा—(प्राकृत) यह ग्रंथ सिद्धसेनसूरी कृत है। इसमें चौबीस तीर्थंकरोंके जन्मादिका वर्णन गाथा-बद्ध दिया हुआ है। यह कृति भी एक गुटकेमें संनिहित है।

१०. अहोरात्रिकाचार—यह ग्रन्थ पं० आशाधरजी कृत है जिसकी श्लोक संख्या ५० बतलाई गई है और जो एक गुच्छकमें संगृहीत है।

११. हंसा अनुप्रेक्षा—इस ग्रन्थके कर्ता अजितब्रह्म हैं।

१२. नेमिचरित—(अपभ्रंश) महाकवि पुष्पदन्त कृत यह ग्रन्थ भी एक गुच्छकमें संकलित है। इस चरित ग्रन्थको देख कर यह निश्चय करना चाहिये कि यह पुष्प-दन्तकी स्वतन्त्र कृति है या महापुराणान्तर्गत ही नेमिनाथ-का चरित है।

१३. अमृतसार—यह ग्रन्थ ४ संधियोंको लिये हुए है।

१४. षट् द्रव्यनिर्णयविवरण

१५. गोम्मटसार पंजिका—यह जीवकाण्ड कर्म-काण्डकी एक संस्कृत प्राकृत मिश्रित पंजिका टीका है जिसके कर्ता मुनि गिरिकीर्ति हैं। इस ग्रन्थका विशेष परिचय बादको दिया जायगा।

१६. श्रुतभवनदीपक—यह भट्टारक देवसेन कृत संस्कृत भाषाका ग्रंथ है।

१७. रावण-दोहा—प्राकृत (गुच्छकमें)

१८. कल्याणविहाण—(अपभ्रंश) इस ग्रन्थ भण्डारमें वे सब ग्रंथ भी विद्यमान हैं जो दूसरे भंडारोंमें पाये जाते हैं। कुछ ग्रन्थोंकी मूल प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं, यथा—सोमदेवाचार्यका यशतिलकचम्पू मूल, गोम्मटसारकर्मकाण्ड मूल, (यन्त्र रचना सहित)

सिद्धान्तसार प्रा० (यन्त्र रचना सहित)

राजवार्तिकमूल, और अमरकोशकी टीका क्षीर स्वामिकृत मौजूद है। —परमानन्द जैन

मंगल पद्य

सवैया इकतीसा

वंदू वद्धमान जाको ज्ञान है समन्तभद्र, गुण अकलंक रूप विद्यानन्द धाम है।
जाको अनेकान्तरूप वचन अबाध सिद्ध, मिथ्या अन्धकारहारी दीप ज्यों ललाम है॥
भव्यजीव जासके प्रकाश तैं विलोके सब, जीवादिक वस्तुके समस्त परिणाम हैं।
वर्तो जयवन्त सो अनन्तकाल लोक मांहि, जाको ध्यान मंगल स्वरूप अभिराम हैं॥

—कविवर भागचन्द

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण संस्कृतिमें नारी

(परमानन्द शास्त्री)

श्रमण संस्कृतिमें नारीका स्थान

श्रमण संस्कृतिमें भारतीय नारीका आत्म-गौरव लोकमें आज भी उद्दीपित है, वह अपने 'धर्म और कर्तव्यनिष्ठाके लिये जीती है। नारीका भविष्य उज्वल है, वह नरकी जननी है और मातृत्वके आदर्श गौरवको प्राप्त है। वैदिक परम्परामें नारीका जीवन कुछ गौरवपूर्ण नहीं रहा और न उसे धर्म-साधना द्वारा आत्मविकास करनेका कोई साधन अथवा अधिकार ही दिया गया, वह तो केवल भोगोपभोगकी वस्तु एवं पुत्र जननेकी मशीनमात्र रह गई थी। उसका मनोबल और आत्मबल पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़ा हुआ होनेके कारण कुंठित हो गया था। वह अबला एवं असहाय जैसे शब्दों द्वारा उल्लेखित की जाती थी और पुरुषों द्वारा पद-पद पर अपमानित की जाती थी। उस समय जनता—"यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः" की नीतिको भूल चुकी थी। वेद मंत्रका पाठ अथवा उच्चारण करना भी उन्हें गुनाह एवं अपराध माना जाता था। जाति बन्धन और रीति-रिवाज भी उनके उत्थानमें कोई सहायक नहीं थे, बल्कि वे उन्हें और भी पतित करनेमें सहायक हो जाते थे। वैदिक-संस्कृतिकी इस संकीर्ण मनोवृत्तिवाली धाराके प्रवाहका परिणाम उस समयकी श्रमण संस्कृति और उनके धर्मानुयायियों पर भी पड़ा। फलतः उस धर्मके अनुयायियोंने भी पुराणादिग्रंथोंमें नारीकी निंदा की, उसे 'विषबेल', 'नरक पद्धति' तथा मोक्ष मार्गमें बाधक बतलाया। फिर भी श्रमण-संस्कृतिमें नारीके धर्म-साधनका—धर्मके अनुष्ठान द्वारा आत्म-साधनाका कोई अधिकार नहीं छीना गया, वे उपचार महाव्रतादिके अनुष्ठान द्वारा 'आर्यिका' जैसे महत्तरपदका पालन करती हुई अपने नारी-जीवनको सफल बनाती रही हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

वैदिक संस्कृतिकी तरह बौद्ध परम्परामें भी स्त्रीका कोई धार्मिक स्थान नहीं था। आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान-महावीरके संघमें लाखों स्त्रियोंको दीक्षित देखकर और उसके द्वारा श्राविका, क्षुल्लिका और आर्यिकाके व्रतोंके अनुष्ठान द्वारा होने वाली धार्मिक उदारताको देखकर, गौतमबुद्धके शिष्य आनन्द से न रहा गया, उसने बुद्धसे कहा कि आप अपने संघमें स्त्रियोंको दीक्षित क्यों नहीं करते, तब बुद्धने कहा कि कौन झगड़ा मोल ले। उस समय वैदिक संस्कृतिका बोलबाला था। उसके खिलाफ़ प्रवृत्ति करना साधारण कार्य नहीं था। इससे स्पष्ट है कि उस समय वैदिक संस्कृतिके प्राबल्यके कारण बुद्ध भी स्त्रियोंको अपने संघमें दीक्षित करनेमें संकोच करते थे। परन्तु महावीरने उसे कार्यरूपमें परिणतकर नारीका समुद्धार ही नहीं किया, प्रत्युत एक आदर्श मार्गको भी जन्म दिया। पश्चात् आनन्दकी प्रेरणा स्वरूप बुद्धने भी स्त्रियोंको दीक्षित करना शुरु कर दिया। ऊपरके उल्लेखसे स्पष्ट है कि श्रमणसंस्कृतिमें आंशिक रूपसे नारीका प्रभुत्व बराबर कायम रहा। फिर भी नारीने उस कालमें भी अपने आदर्श जीवनको महत्ताको नष्ट नहीं होने दिया, किन्तु अपनी आनको बराबर कायम रखते हुए उसे और भी समुज्वल बनानेका यत्न किया।

सीताका आदर्श

जिस तरह पुरुषोंमें सेठ सुदर्शनने ब्रह्मचर्यव्रतके अनुष्ठान द्वारा उसकी महत्ताको गौरवान्वित किया; ठीक उसी तरह एक अकेली भारतीय सीताने अपने सतीत्व-संरक्षणका जो कठोरतम परिचय दिया उससे उसने केवल स्त्री-जातिके कलंकको ही नहीं धोया; प्रत्युत भारतीय नारीके अवनत मस्तकको सदाके लिए उन्नत बना दिया। जब रामचंद्रने सीतासे अग्निकुण्डमें प्रवेश करनेकी कठोर आज्ञा द्वारा अपने सतीत्वका परिचय देनेके लिये कहा, तब सीताने समस्त जन समूहके समक्ष यह प्रतिज्ञा की, कि यदि मैंने मनसे, वचनसे, कायसे रघुको छोड़कर स्वप्नमें भी किसी अन्य पुरुषका चिंतन किया हो तो मेरा यह शरीर अग्निमें भस्म हो जाय, अन्यथा नहीं, इतना कहकर सीता उस अग्निकुण्डकी भीषण ज्वालामें कूद पड़ी और सती साध्वी होनेके कारण वह उसमें खरी निकली१।

१—सर्वप्राणिहिताऽऽचार्य चरणौ च मनस्थितौ।
प्रणम्योदारगंभीरा विनीता जानकी जगौ॥
कर्मणा मनसा वाचा, रामं मुक्त्वा परं नरं।
समुद्वहामि न स्वप्नेप्यन्यं सत्यमिदं मम॥
यद्येतदनृतं वच्मि तदा मामेष पावकः।
भस्मसाद्भावमप्राप्तामपि प्रापयतु क्षणात्॥

—पद्मचरित्र १०५, २४-२६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोकोपवादका वह कलङ्क जो जबर्दस्ती उसके शिर मढ़ा गया था वह सदाके लिये दूर हो गया और सीताने फिर संसारके इन भोग विलासोंको हेय समझकर, रामचन्द्रकी अभ्यर्थना और पुत्रादिकके मोहजालको उसी समय छोड़कर पृथ्वीमती आर्यिकाके निकट आर्यिकाके व्रत ले लिये और अपने केशोंको भी दुखदायी समझकर उनका भी लोच कर डाला२। कठिन तपश्चर्या द्वारा उस स्त्री पर्यायका भी विनाशकर स्वर्गलोकमें प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया।

भारतीय श्रमण-परम्परामें केवल भगवान् महावीरने नारीको सबसे पहले अपने संघमें दीक्षितकर आत्म-साधनाका अधिकार दिया हो, यही नहीं; किन्तु जैनधर्मके अन्य २३ तीर्थंकरोंने भी अपने-अपने संघमें ऐसाही किया है; जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रमणसंस्कृतिने पुरुषोंकी भांतिही स्त्रियोंके धार्मिक अधिकारोंकी रक्षा की—उनके आदर्शको भी कायम रहने दिया, इतना ही नहीं किन्तु उनके नैतिक जीवनके स्तरको भी ऊँचा उठानेका प्रयत्न किया है। भारतमें गान्धी-युगमें गान्धीजीके प्रयत्नसे नारीके अधिकारोंकी रक्षा हुई है उन्होंने जो मार्ग दिखाया उससे नारी-जीवनमें उत्साह की एक लहर आगई है, और नारियाँ अपने उत्तरदायित्वको भी समझने लगी हैं। फिर भी वैदिक संस्कृतिमें धर्म-सेवनका अधिकार नहीं मिला।

नारियोंके कुछ कार्योंका दिग्दर्शन

भारतीय इतिहासको देखनेसे इस बातका पता चलता है कि पूर्वकालीन नारी कितनी विदुषी, धर्मात्मा, और कर्तव्य परायण होती थी। वह आजकलकी नारीके समान अबला या कायर नहीं होती थी, किन्तु निर्भय, वीरांगना और अपने सतीत्वके संरक्षणमें सावधान होती थी जिनके अनेक उद्धरण ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। यह सभी जानते हैं कि नारीमें सेवा करनेकी अपूर्व क्षमता होती है। पतिव्रता केवल पतिके सुख-दुखमें ही शामिल नहीं रहती है, किन्तु वह विवेक और धैर्यसे कार्य करना भी जानती है। पुराणमें ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं जिनमें स्त्रीने पतिकी सेवा करते हुए, उसके कार्यमें और राज्यके संरक्षणमें तथा युद्धमें सहायता की है अवसर आने पर शत्रुके दांत खट्टे किये हैं×। पतिके वियोगमें अपने राज्यकार्यकी संभाल यत्नके साथ की है। इससे नारीकी कर्तव्यनिष्ठाका भी बोध होता है। नारी जहाँ कर्तव्य निष्ठ रही है। वहां वह धर्मनिष्ठा भी रही है। धर्म-कर्म और व्रतानुष्ठानमें नारी कभी पीछे नहीं रही है। अनेक शिलालेखोंमें भारतीय जैन-नारियों द्वारा बनवाये जाने वाले अनेक विशाल गगन चुम्बी मंदिरोंके निर्माण और उनकी पूजादिके लिये स्वयं दान दिये और दिलवावाए थे। अनेक गुफाओंका भी निर्माण कराया था, जिनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

१—कलिङ्गाधिपति राजा खारवेलकी पट्टरानीने कुमारी पर्वत पर एक गुफा बनवाई थी, जिस पर आज भी निम्न लेख अङ्कित है और जो रानी गुफाके नामसे उल्लेखित की जाती है :—

(१) 'अरहंत पसादान (म्) कालिंगा (न) म् समणानम् लेणं कारितं राजिनो ल (।) लाक (स)

(२) हथिस हंस-पपोतस धुना कलिंग–च···(खा) र वे ल स

(३) आग महीपी या का लेणं।'

' मनसिवचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे,
मम यदि पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह शरीरं पावके मामकीनं,
स्वकृत विकृत नीतं देव साक्षी त्वमेव॥''

२—इत्युक्त्वाऽभिनवाशोकपल्लवोपमपाणिनः।
मूर्द्धाजान–स्वमुद्धृत्य पद्मायाऽऽयदस्पृहा॥७६॥
इन्द्रनीलद्युतिच्छायान्-सुकुमारन्मनोहरान्।
केशान-वीक्ष्य ययौ मोहं रामोऽपतश्चभूतले॥७७॥
यावदाश्वासनं तस्य प्रारब्धं चंदनादिना।
पृथ्वीमत्यार्यया तावद्दीक्षिता जनकात्मजा॥७८॥
ततो दिव्यानुभावेन सा विघ्न परिवर्जिता।
संवृत्ता श्रमणा साध्वी वस्त्रमात्रपरिग्रहा॥७९॥

—पद्मचरित पृ० १०५

×चन्द्रगिरि पर्वतके शिलालेख नं० ६१ (१३९) में, जो 'वीरगल' के नामसे प्रसिद्ध है उसमें गङ्गनरेश रक्कसमणिके 'वीर योद्धा' 'वद्देग' (विद्याधर) और उसकी पत्नी सावियब्बेका परिचय दिया हुआ है, जो अपने पतिके साथ 'वागेयूर' के युद्धमें गई थी और वहां शत्रुसे लड़ते हुए वीरगतिको प्राप्त हुई थी। लेखके ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण हैं उसमें वह घोड़े पर सवार है और हाथमें तलवार लिये हुए हाथी पर सवार हुए किसी वीर पुरुषका सामना कर रही है। सावयब्बे रूपवती और धर्मनिष्ठ जिनेन्द्र भक्तिमें तत्पर थी। लेखमें उसे रेवती, सीता और अरुन्धतीके सदृश बतलाया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२—चतुर्थ महाराजा शांति वर्मा, जो पृथ्वी रामके समान ही जैन धर्मके उपासक थे; इनकी रानी चांदकव्वे भी जिन-धर्मकी परम उपासिका थी। शांति वर्माने सन् ९८१ (वि० सं० १०३८) में सोन्दत्तिमें जिनमन्दिरका निर्माण कराया था और १५० महत्तर भूमि राजाने और उतनी ही भूमि रानी चांदकव्वेने बाहुबली देवको प्रदान की थी, जो व्याकरणाचार्य थे।

—देखो, सोन्दत्ति शिला ले० नं० १६०।

३—विष्णु वर्धनकी भार्या शान्तलदेवीने सन् ११२३ (वि० सं० १२३० में) गन्ध वारण वस्ति बनवाई। यह मार-सिंह माचिकव्वे की पुत्री थी और जैन-धर्ममें सुदृढ़ और गान नृत्य विद्यामें अत्यन्त चतुर थी।

४—सोदेके राजा की रानीने, कारणवश पतिके धर्म-परिवर्तन कर लेनेके बाद भी पतिकी असाध्य बीमारीके दूर होने तथा अपने सौभाग्यके अक्षुण्ण बने रहने पर अपने नासिका भूषण (नथ) को, जो मोतियोंका बना हुआ था, बेचकर एक जैन-मन्दिर बनवाया था और सामने एक तालाब भी जो इस समय 'मुत्तिन केरे' के नामसे प्रसिद्ध है।

५—आहव मल्ल राजाके सेनापति मल्लयकी पुत्री अतिमब्बेने, जो जैनधर्मकी विशेष श्रद्धालु और दानशीला थी, उसने चांदी सोनेकी हजारों जिन प्रतिमाएँ स्थापित कीं और लाखों रुपयेका दान किया था।

६—"होयसल नरेश बल्लाल, बल्लाल द्वितीयके मन्त्री चन्द्रमौली वेदानुयायी ब्राह्मण थे। परन्तु उनकी पत्नी 'आचियक्क' जिनधर्म परायणा थी और वीरोचित क्षात्र-धर्ममें निष्ठ थी, उसने बेलगोलमें पार्श्वनाथ वस्ति-का निर्माण कराया था।'

—देखो, श्रवण बेलगोल लेख नं० ४४४

जबलपुरमें 'पिसनहारीकी मढिया' के नामसे एक जैन मन्दिर प्रसिद्ध है जिसे एक महिलाने आटा पीस-पीसकर बड़े भारी परिश्रमसे पैसा जोड़ कर भक्तिवश अपने द्रव्यको सत्कार्यमें लगाया था। आज भी अनेक मंदिर और मूर्तियाँ तथा धर्मशालाएँ अनेक नारियोंके द्वारा बनवाई गई हैं, जिनका उल्लेख लेख वृद्धिके भयसे नहीं किया है।

नारियोंके धर्माचरण और उनके सन्यास लेनेके कुछ उल्लेख—

नारीको तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और अन्य अनेक पुण्यात्मा महापुरुषोंके उत्पन्न करनेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिन्होंने संसारके दुःखी जीवोंके दुःखोंको दूर करने-के लिये भोग-विलास और राज्यादि विभूतियोंको छोड़कर आत्म-साधना द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका प्रयत्न किया है। अनेक स्त्रियोंने आर्यिकाओंके व्रतोंको धारणकर आत्म-साधनाकी उस कठोर तपश्चर्याको अपनाया है और आत्मा-नुष्ठान करते हुए मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेका भी प्रयत्न किया है। साथ ही, आगत उपसर्ग परीषहोंको भी समभावसे सहन किया है और अन्त समयमें समाधि पूर्वक शरीर छोड़ा। उन धर्म-सेविका नारियोंके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(१) भगवान् महावीरके शासनमें जीवंधर स्वामीकी आठों पत्नियोंने जो विभिन्न देशोंके राजाओंकी राजपुत्रियाँ थीं, पतिके दीक्षा लेने पर आर्थिकाके व्रत धारण किये थे।

(२) वीरशासनमें जम्बू स्वामी अपनी तात्कालिक परिणाई हुई आठों स्त्रियोंके हृदयों पर विजय प्राप्तकर प्रातःकाल दीक्षित हो गए। तब उनकी उन स्त्रियोंने भी जैन-दीक्षा धारण की।

(३) चंदना सतीने, जो वैशाली गणतंत्रके राजा चेटककी पुत्री थी, आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर, भगवान् महावीरसे दीक्षित होकर आर्यिकाके व्रतोंका अनुष्ठान करती हुई महावीरके तीर्थमें छत्तीस हजार आर्यिकाओंमें गणिनीका पद प्राप्त किया था।

(४) मयूर ग्राम संघकी आर्यिका दमितामतीने कटवप्र गिरि पर समाधिमरण किया।

(५) नविलूरकी अनंतमती-गतिने द्वादश तपोंका यथाविधि अनुष्ठान करते हुए अन्तमें कटवप्र पर्वत पर स्वर्गलोक-का सुख प्राप्त किया।

(६) दण्ड नायक गङ्गराजकी धर्म-पत्नी लक्ष्मी मतिने, जो सती, साध्वी, धर्मनिष्ठा और दानशीला थी, और मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छके शुभचन्द्राचार्यकी शिष्या थी, उसने शक सं० १०४४ (वि० सं० ११७६) में सन्यास विधिसे देहोत्सर्ग किया था।

इस प्रकारके सैकड़ों उदाहरण शिलालेखों और पुराण-ग्रंथोंमें उपलब्ध होते हैं, जिन सबका संकलन करनेसे एक पुस्तकका सहज ही निर्माण हो सकता है। अस्तु, यहां लेख वृद्धिके भयसे उन सभीको छोड़ा जाता है।

Jain Education International　　For Personal & Private Use Only　　www.jainelibrary.org

ग्रन्थ-रचना—

अनेक नारियाँ विदुषी होनेके साथ २ लेखिका और कवियित्री भी हुई हैं उन्होंने अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। पर वे सब रचनाएं इस समय सामने नहीं हैं। आज भी अनेक नारियाँ विदुषी, लेखिका तथा कवियित्री हैं, जिनकी रचना भावपूर्ण होती है। भारतीय जैनश्रमण परम्परामें ऐसी पुरातन नारियाँ संभवतः कम ही हुई हैं जिन्होंने निर्भयतासे पुरुषोंके समान नारी जातिके हितकी दृष्टिसे किसी धर्मशास्त्र या आचार शास्त्रका निर्माण किया हो, इस प्रकारका कोई प्रामाणिक उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया।

हां, जैन नारियोंके द्वारा रची हुई दो रचनाएँ मेरे देखनेमें अवश्य आई हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वे भी प्राकृत, संस्कृत और गुजराती भाषाकी जानकार थीं। इतना ही नहीं किन्तु गुजराती भाषामें कविता भी कर लेती थी। ये दो रचनाएँ दो विदुषी आर्यिकाओंके द्वारा रची गई हैं।

उनमें से प्रथमकृति तो एक टिप्पण ग्रंथ है जो अभिमान मेरु महाकवि पुष्पदन्तकृत 'जसहर चरिउ' नामक ग्रन्थका संस्कृत टिप्पण है, जिसकी पृष्ठ संख्या १६ है और जिसकी खंडित प्रति दिल्लीके पंचायतीमंदिरके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है। जिसमें दो से ११ और १६वाँ पत्र अवशिष्ट है। शेष मध्यके ७ पत्र नहीं है। सम्भवतः वे उस दुर्घटनाके शिकार हुए हों, जिसमें दिल्लीके शास्त्र भण्डारोंके हस्त-लिखित ग्रन्थोंके त्रुटित पत्रोंको बोरीमें भरवाकर कलकत्ताके समुद्रमें कुछ वर्ष हुए गिरवा दिया गया था। इसी तरह पुरातन खण्डित मूर्तियोंको भी देहलीके जैन समाजने अवज्ञाके भयसे अंग्रेजोंके राज्यमें बम्बईके समुद्रमें प्रवाहित कर दिया था, जिन पर सुनते हैं कितने ही लेख भी अंकित थे। खेद है! समाजके इस प्रकारके अज्ञात प्रयत्नसे ही कितनी ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री विलुप्त हो गई है। आशा है दिल्ली समाज आगे इस प्रकारकी प्रवृत्ति न होने देगा।

यशोधरचरित टिप्पण की वह प्रति सं० १५६६ मंगसिर वदी १० बुधवारको लिखी गई है। टिप्पणके अन्तमें निम्न पुष्पिका वाक्य लिखा हुआ है—'इति श्री पुष्पदन्तकृत यशोधर काव्यं टिप्पणं अर्जिका श्रीरणमतिकृतं संपूर्णम्।' टिप्पणके इस पुष्पिका वाक्यसे टिप्पणग्रन्थकी रचयत्री 'रणमति' आर्यिका है और उसकी रचना सं० १५६६ से पूर्व हुई है। कितने पूर्व हुई है इसके जाननेका अभी कोई साधन नहीं है।

—टिप्पणका प्रारम्भिक नमूना इस प्रकार है :—

"वल्लहो— वल्लभ इति नामान्तरं कृष्णराज देवस्य। पज्जतऊ पर्याप्त मलमिति यावत्।" दुक्किय पहाए— दुःकृतस्य प्रथमं प्रख्यापनं विस्तरणं वा। दुःकृत मार्गो वा। लहु मोक्षं देशतः कर्मक्षयं लाघ्वेति शीघ्रं पर्यायो वा।

पंचसु पंचसु पंचसु—भरतैरावतविदेहाभिधानासु प्रत्येकं पंच प्रकारतया पंचसु दशसु कर्मभूमिसु। दया सहीसु— धर्मो दया रुख्यं ईश इव—दया सहितासु वा। धुउ पंचसु—विदेहभूमिसु पंचसु ध्रुवो धर्मसूत्रैक एव चतुर्थः कालः समयः। दशसु—पंचभरत पंचैरावतेषु। कालावेक्खए—वर्तमान (ना) सर्पिणी कालापेक्षया। पुनः देवसामि—प्रधानामराणां त्वं स्वामी। वत्ताणु-ट्ठाणे—कृषि पशुपालन वाणिज्या च वार्ता। खत्तधनु—क्षत्रदण्डनीति। परमपत्तु—परमा उत्कृष्टा गणेन्द्रा ऋषभ—सेनादयस्तेषां परम पूज्यः" ॥

दूसरी कृति समकितरास है, जो हिन्दी गुजराती मिश्रित काव्य-रचना है। इस ग्रन्थकी पत्र संख्या ८६ है, और यह ग्रन्थ ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवन झालरा-पाटनके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है। इस ग्रन्थमें सम्यक्त्वोपादक आठ कथाएं दी हुई हैं, और प्रसंगवश अनेक अवान्तर कथा भी यथा स्थान दी गई हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ संस्कृत सम्यक्त्व कौमुदी का गुजराती पद्यानुवाद है। इसकी रचयित्री आर्यारत्नमती है। ग्रन्थमें उन्होंने अपनी जो गुरु परम्परा दी है वह इस प्रकार है :—

मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय सरस्वतिगच्छमें भट्टारक पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दी, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, आर्या चन्द्रमती, विमलमती और रत्नमती*। ग्रन्थका आदि मंगल इस प्रकार है :—

*इस गुरु परम्परामें भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति सूरतकी गद्दीके भट्टारक थे। विद्यानन्दि सं० १५५८ में उस पट्ट पर विराजमान हुए थे। मल्लिभूषण सागवाड़ा या मालवाकी गद्दीके भट्टारक थे। लक्ष्मीचन्द और वीरचन्द्र भी मालवा या सागवाड़ा के आस-पास भट्टारक पद पर आसीन रहे हैं। ये ज्ञानभूषण तत्त्वज्ञान तरंगिणीके कर्तासे भिन्न हैं। क्योंकि यह भ० वीरचन्द्रके शिष्य थे। और तत्त्वज्ञान तरंगिणीके कर्ता भ० भुवनकीर्तिके शिष्य थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीर जिनवर वीर जिनवर नमूँ ते सार । तीर्थंकर चौबीसवें । मनवांछित फलबहु दान दातार । निरमल सारदा स्वामिनी वली तवूँ । लक्ष्मी चन्द्र, वीरचन्द्र मनोहर । ज्ञान भूषण पाय प्रणमिनि। रत्नमति कहि चंग, रास करूँ अति रूबडो । श्रीसमकिततणु भनिरास ॥१॥

भासरासनी —

चउवीस जिनवर पायनमीए, सारदा तणिय पसायनु ।
मूलसंघ महिमानिलुए, भारती गच्छि सिणगारनु ॥१॥
कुंदकुंदाचारिजि कुलिइंए, पद्मनन्दी शुभभावनु ।
देवेन्द्रकीरति गुरु गुण निलुए श्रीविद्यानिंद महंतनु ॥२॥
श्रीमल्लिभूषण महिमा निलुए, श्रीलक्ष्मीचंद्र गुणवंतनु ॥३
वीरचंद्र विद्या निलुए, श्रीज्ञानभूषण ज्ञानवन्तनु ॥४॥
गम्भीरार्णव, मेरु सारिषु धीरनु ।
दयाराणी जि श्रिम निवसए, ज्ञानतणु दातारनु ॥५॥

अन्तिम भाग—

शांती जिनवर शांती जिनवर नमिय ते पाय ।
रास कहूं सम्यक्तणु सारदा तणिय पसाय मनोहर ।
कुंदकुंदाचारिजि कुलि पद्मनन्दि गुरु जाणि ।
देविंदकीरति तेह पट्ट हुव वादी सिरोमणि बखाणि ॥
दूहा—विद्यानन्द तसु पट्ट हुवनि मल्लिभूषण महंत ।
लक्ष्मीचन्द्र तेह पछीरिसिणु यति य सरोमणि संत ॥
वीरचन्द्र पाटि ज्ञानभूषण नमीनि । चन्द्रमती बाई नमी पाय । रत्नमती यो पिय रास करुं, विमलमती कहिण थकी सार॥ इति श्रीसमाकितरास समाप्तः। आर्या रत्नमती कृतं ॥ भ० पूंजारावजी पठनार्थं (श्रीरस्तु)

आर्या रत्नमतीने अपना यह रास अथवा रासा आर्या विमलमतीकी प्रेरणासे रचा था। आर्या रत्नमतीकी गुरुआणी आर्या चन्द्रमती थीं। यह ग्रंथ विक्रमकी १६वीं शताब्दीके मध्यकालकी रचना जान पड़ती है; क्योंकि रत्नमतीकी उक्त गुरु परम्परामें निहित विमलमती वह विमलश्री जान पड़ती है, जिनकी शिष्या विनयश्री भ० लक्ष्मीचन्द्रजी के द्वारा दीक्षित थी, जिन्होंने पं० आशाधरजी कृत महा-अभिषेक पाठकी ब्रह्म श्रुतसागर कृत टीका उक्त भट्टारक लक्ष्मीचन्दके शिष्य ब्रह्म ज्ञानसागरको सं० १५५२ में लिखकर प्रदान की थी। इस उल्लेख परसे भी आर्या रत्नमती विक्रमकी १६वीं शतीके मध्यकी जान पड़ती हैं।

अनेक विदुषी नारियोंने केवल अपना ही उत्थान नहीं किया, अपने पतिको भी जैनधर्मकी पावन शरणमें ही नहीं लाईं; प्रत्युत उन्हें जैनधर्मका परम आस्तिक बनाया है और अपनी संतानको भी सुशिक्षित एवं आदर्श बनानेका प्रयत्न किया है। उदाहरणके लिये अपने पति मगध देशके राजा श्रेणिक (बिम्बसार) को भारतीय प्रथम गणतन्त्रके अधिनायक लिच्छिवि वंशी राजा चेटककी सुपुत्री चेलनाने बौद्धधर्मसे पराङ् मुखकर जैनधर्मका श्रद्धालु बनाया है जिसके अभय-कुमार और वारिषेण जैसे पुत्र रत्न हुए जिन्होंने सांसारिक सुख और वैभवका परित्यागकर आत्म-साधनाकी कठोर तपश्चर्याका अवलम्बन किया था।

इस तरह नारीने श्रमणसंस्कृतिमें अपना आदर्श जीवन वितानेका यत्न किया है। उसने पुरुषोंकी भांति आत्मसाधन और धर्मसाधनमें सदा आगे बढ़नेका प्रयत्न किया है। नारीमें जिनेन्द्रभक्तिके साथ श्रुत-भक्तिमें भी तत्परता देखी जाती है, वे श्रुतका स्वयं अभ्यास करती थीं, समय-समय पर ग्रन्थ स्वयं लिखती और दूसरोंसे लिखा-लिखाकर अपने ज्ञानावरनी कर्मके क्षयार्थ साधुओं, विद्वानों और तत्कालीन भट्टारकों तथा आर्यिकाओंको प्रदान करती थीं, इस विषयके सैकड़ों उदाहरण हैं, उन सबको न देकर यहाँ सिर्फ ५-६ उद्धरण ही नीचे दिये जाते हैं :—

(१) संवत् १४६७ में काष्ठासंघके आचार्य अमरकीर्ति द्वारा रचित 'षट् कर्मोपदेश' नामक ग्रन्थकी १ प्रति ग्वालियरके तंवर या तोमरवंशी राजा वीरमदेवके राज्यमें अग्रवाल साहू जैतूकी धर्मपत्नी सरेने लिखाकर आर्यिका जैनश्री की शिष्यणी आर्यिका बाई विमलश्रीको समर्पित की थी।

(२) संवत् १६८५ में अग्रवालवंशी साहू वच्छराजकी सती साध्वी पत्नी 'पाल्हे' ने अपने ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थ द्रव्यसंग्रहकी ब्रह्मदेवकृत वृत्ति लिखाकर प्रदान की।

(३) संवत् १५६५ में खण्डेलवालवंशी साहू छीतरमलकी पत्नी राजाहीने अपने ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थ 'धर्म-परीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखकर मुनि देवनन्दिको प्रदान किया।

(४) संवत् १५३३ में धनश्रीने पद्मानन्द्याचार्यको 'जम्बूद्वीप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञप्ति' प्राकृत लिखाकर पं० मेधावीको प्रदानकी थी ।

(५) संवत् १५६० में माणिक बाई हूमड़ने, जो व्रत धारिणी थी, गोम्मटसारपंजिका लिखाकर लघुविशालकीर्तिको भेंट स्वरूप प्रदान की थी ।

(६) संवत् १६६८ में हूंबड जातीय बाई दीरोंने लिखाकर भ० सकलचन्द्रको प्रदान किया था ।

उपसंहार

आशा है पाठक इस लेखकी संक्षिप्त सामग्री परसे नारीकी महत्ताका अवलोकन करेंगे, उसे उचित सम्मानके साथ उसकी निर्बलताको दूर करनेका यत्न करेंगे और श्रमणसंस्कृतिमें नारीकी महत्ताका मूल्यांकन करके नारी-जाति-को ऊँचा उठानेके अपने कर्तव्यका पालन करेंगे ।

आत्महितकी बातें

(क्षु० सिद्धिसागर)

जब लोग निश्चल होनेके लिए यशोलिप्सा और छलका परित्याग करके मन-वचन कायकी चंचलताका निरोध करनेके लिए उद्यम करते हैं तो सातों तत्वों पर विश्वास करने वाले आत्माको या सच्चे विश्वास ज्ञान और आचरणको आत्महितका वास्तविक रूप निश्चत करते हैं । सम्भव है चलनेमें पैर फिसल जाय किन्तु पैरको जमा कर रखनेका अभ्यास तो वे करते हैं—वे क्रोधकी ज्वालासे जलते हुए गर्तमें न गिर जावें इसके लिए यथा उद्यम भी करते हैं । यदि कभी-कभी क्रोधकी लपटोंसे वे झुलस जाते हैं उसे हेय तो अवश्य समझ लेते हैं । उनका दुर्भाग्य है जो अनंतानुबन्धी क्रोधकी आगमें जलते हैं । मानके पहाड़से उतर कर वे सम्पूर्ण विद्या और चारित्रके सच्चे नेता होते हैं । कपटकी झपटमें कभी वे आते हों तो चपेट भी अवश्य सहन करते ही हैं । आगामी तृष्णाको छोड़ने पर दुर्गतिका अन्त तो होता ही है किन्तु सन्तोष और शान्तिकी लहर भी अवश्य दौड़ जाती है ।

सत्यका सूर्य जिसके अन्तःकरणसे उदित होकर सुख-गिरि पर चमक रहा है—क्या मजाल जो दुराग्रहियोंके बकवाद उसके सामने अधिक टिक सकें । बस स्याद्वादकी किरणोंसे चमकता हुआ अनेकान्त सूर्य उन जीवोंके मोहान्धकारको दूर करनेमें समर्थ है जो निकट भव्य हैं—उल्लूको सूर्य मार्ग नहीं बता सकता ।

संयम जीवोंको कौनसा सुख ? नहीं देता अब भी यह प्रश्न उन मनीषियोंके मानसमें ज्यों का त्यों आ आ-कर उनको कितनी बार नहीं जगा जाता ?—फिर भी झोंटे लेनेकी आदतसे बाज नहीं आते हैं वे, जो जागनेको पाप समझते हैं !!

तप अग्निके विना कोई भी कर्मोंकी राख नहीं बना सकता । इच्छाके निरोध होने पर ही तपकी आग प्रज्वलित होती है । यह वह आग है जो सुखको चरम सीमा तक पहुँचानेमें समर्थ है ।

जो वस्तु पराई है और है वह विद्यमान तो उसे छोड़ने से सारी झंझटें छूट जाती हैं ।

मरते समय जब शरीर ही अलग हो जाता है तो फिर शेष घर आदिक अपने कैसे हो सकते हैं ? अपने ज्ञान चेतनामय कर्तृत्वसे भिन्न अन्यका कर्ता होनेका साहस वे अन्तःकरणसे तन्मय होकर अनन्तानुबन्धी रूपसे नहीं कर सकते जो सम्यग्दर्शनकी नीव पर खड़े हैं ।

जीवोंका सहारा आप आप ही अपनेमें रहना है । गुरुकुलके गुरुकुलमें रहते हुए स्नातक होना परम ब्रह्मचर्य है । स्त्रीके किसी भी अवस्थामें दृष्टिगत हो जाने पर विकृत न होना ब्रह्मचर्य है । उत्तम दश लक्षण वाले धर्मको निर्व्यसनी निष्पाप व्यक्ति पाले और रत्नत्रयसे त्रिगुप्ति गुप्त रह जावे तो आत्मा ही अपने हितका सच्चा रूप है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा-तत्त्व

(परमानन्द जैन शास्त्री)

संसारके समस्त धर्मोंका मूल अहिंसा है, यदि इन धर्मोंमेंसे अहिंसाको सर्वथा पृथक् कर दिया जाय तो वे धर्म विष्प्राण एवं अनुपादेय हो जाते हैं; इसी कारण अहिंसा-तत्त्वको भारतके विविध धर्म संस्थापकोंने अपनाया ही नहीं, किन्तु उसे अपने-अपने धर्मका प्रायः मुख्य अङ्ग भी बनाया है। अहिंसा जीवनप्रदायिनी शक्ति है, इसके बिना संसारमें सुख शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता। जिस तरह सम्यग्निर्धारित राज्यनीतिके विना राज्यका संचालन सुचारु रीतिसे नहीं हो सकता उसी तरह अहिंसाका अनुसरण किये बिना शान्तिका साम्राज्य भी स्थापित नहीं हो सकता। अहिंसाके पालनसे ही जीवात्मा पराधीनताके बन्धनोंसे छूटकर वास्तविक स्वाधीनताको प्राप्त कर सकता है। अहिसाकी भावना आज भारतका प्राण है, परन्तु इसका पूर्ण रूपसे पालन करना और उसे अपने जीवनमें उतारना कुछ कठिन अवश्य प्रतीत होता है। अहिंसासे आत्मनिर्भयता वीरता, दया और शौर्यादि गुणोंकी वृद्धि होती है, उससे ही प्राणिसमाजमें परस्पर प्रेम बढ़ता है और संसारमें सुख-शान्तिकी समृद्धि होती है। अहिंसाके इस गम्भीर रहस्यको समझनेके लिये उसके विरोधी धर्म हिंसाका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

जैनदृष्टिसे हिंसा अहिंसाका स्वरूप—

हिंसा शब्द हननार्थक 'हिंसि' धातुसे निष्पन्न होता है; इस कारण उसका अर्थ—प्रमाद वा कषायके निमित्तसे किसी भी सचेतन प्राणीको सताना या उसके द्रव्यभाव रूप-प्राणोंका वियोग करना होता है※। अथवा किसी जीवको बुरे भावसे शारीरिक तथा मानसिक कष्ट देना, गाली प्रदानादिरूप अपशब्दोंके द्वारा उसके दिलको दुखाना, हस्त, कोड़ा, लाठी आदिसे प्रहार करना इत्यादि कारण-कलापोंसे उसे प्राणरहित करने या प्राणपीडित करनेके लिये जो व्यापार किया जाता है उसे 'हिंसा' कहते हैं।

※प्रमत्त योगात्प्राणव्यपरोणं हिंसा।
—तत्त्वार्थसूत्रे, उमास्वातिः

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रः

जब हम किसी जीवको दुखी करने-सताने पीड़ा देनेका विचार करते हैं उसी समय हमारे भावोंमें और वचन-कायकी प्रवृत्तिमें एक प्रकारकी विकृति आ जाती है, जिससे हृदयमें अशान्ति और शरीरमें बेचैनी उत्पन्न होती रहती है और जो आत्मिक शान्तिके विनाशका कारण है, इसी प्रकारके प्रयत्नावेशको अथवा तज्जन्य संकल्प विशेषको संरम्भ कहते हैं×। पश्चात् अपनी कुत्सित चित्तवृत्तिके अनुकूल उस प्राणिको दुखी करनेके अनेक साधन जुटाये जाते हैं; मायाचारीसे दूसरोंको उसके विरुद्ध भड़काया जाता है, विश्वासघात किया जाता है— कपटसे उसके हितैषी मित्रोंमें फूट डाली जाती है—उन्हें उसका शत्रु बनानेकी चेष्टा की जाती है, इस तरहसे दूसरोंको पीड़ा पहुँचाने रूप व्यापारके साधनोंको संचित करने तथा उनका अभ्यास बढ़ानेको समारम्भ कहा जाता है+। फिर उस साधनसामग्रीके सम्पन्न हो जाने पर उसके मारने या दुखी करनेका जो कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है उस क्रियाको आरम्भ कहते हैं†। ऊपरकी उक्त दोनों क्रियाएँ तो भावहिंसाकी पहली और दूसरी श्रेणी हैं हीं, किन्तु तीसरी आरम्भक्रियामें द्रव्य-भाव रूप दोनों प्रकारकी हिंसा गर्भित है, अतः ये तीनों ही क्रियाएँ हिंसाकी जननी हैं। इन क्रियाओंके साथमें मन वचन तथा कायकी

×'संरंभो संकप्पो'—भ० आराधनायां, शिवार्यः ८१२।
प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरंभः।
— सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः, ६, ८।
प्राणव्यपरोणादौ प्रमादवतः प्रयत्नः संरंभः
—विजयोदयां, अपराजितः गा० ८११

+परिदावकदो हवे समारम्भो॥
—भग० आराधनायां, शिवार्यः ८१२

साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः।
सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः, ६, ८।
साध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनानांसमाहारः समारंभः।
—विजयोदयायां, अपराजितः, गा० ८११।

†आरम्भो उद्दवओ,
—भ० अराधनायां शिवार्यः, ८१२।
प्रक्रमः आरम्भः। सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः ६, ८।
संचितहिंसाद्युपकारणस्य आद्यः प्रक्रमः आरंभः।
विजयोदयायां अपराजितः, गा० ८११

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तिके संम्मिश्रणसे हिंसाके नव प्रकार हो जाते हैं और कृत–स्वयं करना, कारित–दूसरोंसे कराना, अनुमोदन–किसी को करता हुआ देखकर प्रसन्नता व्यक्त करना, इनसे गुणा करने पर हिंसाके २७ भेद होते हैं। चूँकि ये सब कार्य क्रोध, मान, माया, अथवा लोभके वश होते हैं। इसलिये हिंसाके सब मिलाकर स्थलरूपसे १०८ भेद हो जाते हैं। इन्हींके द्वारा अपनेको तथा दूसरे जीवोंको दुःखी या प्राण-रहित करनेका उपक्रम किया जाता है। इसीलिये इन क्रियाओंको हिंसाकी जननी कहते हैं। हिंसा और अहिंसाका जो स्वरूप जैन ग्रन्थोंमें बतलाया गया है, उसे नीचे प्रकट किया जाता है—

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते त्रसस्थावराङ्गिनाम्।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्य-भावस्वभावकाः॥

—अनगारधर्मामृते, आशाधरः ४, २२

अर्थात्—क्रोध-मान-माया और लोभके आधीन होकर अथवा अयत्नाचारपूर्वक मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे त्रसजीवों-के—पशु पक्षी मनुष्यादि प्राणियोंके—तथा स्थावर जीवों के - पृथ्वी, जल, हवा और वनस्पति आदिमें रहने वाले सूक्ष्म जीवोंके—द्रव्य और भावप्राणोंका घात करना हिंसा कहलाता है। हिंसा नहीं करना सो अहिंसा है अर्थात् प्रमाद व कषायके निमित्तसे किसीभी सचेतन प्राणीको न सताना, मन वचन-कायसे उसके प्राणोंके घात करनेमें प्रवृत्ति नहीं करना न कराना और न करते हुएको अच्छा समझना 'अहिंसा' है। अथवा—

रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति भासिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठा॥

—तत्त्वार्थवृत्तौ, पूज्यपादेन उद्धृतः।

अर्थात्—आत्मामें राग-द्वेषादि विकारोंकी उत्पत्ति नहीं होने देना 'अहिंसा' है और उन विकारोंकी आत्मामें उत्पत्ति होना 'हिंसा' है। दूसरे शब्दोंमें इसे इस रूपमें कहा जा सकता है कि आत्मामें जब राग-द्वेष–काम–क्रोध–मान–माया और लोभादि विकारोंकी उत्पत्ति होती है तब ज्ञानादि रूप आत्म-स्वभावका घात हो जाता है इसीका नाम भाव हिंसा है और इसी भाव हिंसासे—आत्म परिणामोंकी विकृतिसे—जो अपने अथवा दूसरोंके द्रव्यप्राणोंका घात हो जाता है उसे द्रव्यहिंसा कहते हैं।

हिंसा दो प्रकारसे की जाती है—कषाय और प्रमादसे। जब किसी जीवको क्रोध, मान, माया और लोभादिके कारण या किसी स्वार्थवश जानबूझ कर सताया जाता है या सताने अथवा प्राणरहित करनेके लिए कुछ व्यापार किया जाता है उसे कषायसे हिंसा कहते हैं और जब मनुष्यकी आलस्यमय असावधान एवं अयत्नाचार प्रवृत्तिसे किसी प्राणीका वधादिक हो जाता है तब वह प्रमादसे हिंसा कही जाती है। इससे इतनी बात और स्पष्ट हो जाती है कि यदि कोई मनुष्य बिना किसी कषायके अपनी प्रवृत्ति यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे करता है उस समय यदि दैवयोगसे अचानक कोई जीव आकर मर जाय तो भी वह मनुष्य हिंसक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस मनुष्यकी प्रवृत्ति कषाययुक्त नहीं है और न हिंसा करनेकी उसकी भावना ही है यद्यपि द्रव्यहिंसा जरूर होती है परन्तु तो भी वह हिंसक नहीं कहा जा सकता और न जैनधर्म इस प्राणिघातको हिंसा कहता है। हिंसात्मक परिणति ही हिंसा है, केवल द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहलाती, द्रव्यहिंसाको तो भावहिंसाके सम्बन्धसे ही हिंसा कहा जाता है। वास्तवमें हिंसा तब होती है जब हमारी परिणति प्रमाद-मय होती है अथवा हमारे भाव किसी जीवको दुःख देने या सतानेके होते हैं। जैसे कोई समर्थ डाक्टर किसी रोगीको नीरोग करनेकी इच्छासे ऑपरेशन करता है और उसमें दैव-योगसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है तो वह डाक्टर हिंसक नहीं कहला सकता और न हिंसाके अपराधका भागी ही हो सकता है। किन्तु यदि डाक्टर लोभादिके वश जान बूझकर मारनेके इरादे से ऐसी क्रिया करता है जिससे रोगीकी मृत्यु हो जाती है तो जरूर वह हिंसक कहलाता है और दण्डका भागी भी होता है। इसी बातको जैनागम स्पष्ट रूपसे यों घोषणा करता है :—

उच्चालदम्मिपादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिङ्गो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिदो समये।

—तत्त्वार्थवृत्तौ पूज्यपादेन उद्धृतः

अर्थात्—जो मनुष्य देखभालकर सावधानीसे मार्ग पर चल रहा है उसके पैर उठाकर रखनेपर यदि कोई जन्तु अकस्मात् पैरके नीचे आ जाय और दब कर मर जाय तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोड़ा सा भी पाप नहीं लगता है।

जो मनुष्य प्रमादी है—अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है–उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हुई है तो भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह 'प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः' के वचनानुसार हिंसक अवश्य है—उसे हिंसाका पाप जरूर लगता है। यथा—

मरदु व जीयदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

—प्रवचनसारे कुन्दकुन्दः ३, १७

अर्थात्—जीव चाहे मरे, अथवा जीवत रहे, असावधानीसे काम करने वालेको हिंसाका पाप अवश्य लगता है, किन्तु जो मनुष्य यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे अपनी प्रवृत्ति करता है उससे प्राणि-वध हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता—वह हिंसक नहीं कहला सकता, क्योंकि भावहिंसाके बिना कोरी द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहला सकती।

सकषायी जीव तो पहले अपना ही घात करता है, उसके दूसरोंकी रक्षा करनेकी भावना ही नहीं होती। वह तो दूसरोंका घात होनेसे पहले अपनी कलुषित चितवृत्तिके द्वारा अपना ही घात करता है, दूसरे जीवोंका घात होना न होना उनके भवितव्यके आधीन है*।

हिंसा दो प्रकारकी होती है एक अन्तरंग हिंसा और दूसरी बाहिरंग हिंसा। जब आत्मामें ज्ञानादि रूप भाव प्राणोंका घात करने वाली अशुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है तब वह अंतरंग हिंसा कहलाती है और जब जीवके बाह्य द्रव्यप्राणोंका घात होता है तब बहिरंग हिंसा कहलाती है। इन्हींको दूसरे शब्दोंमें द्रव्यहिंसा और भावहिंसाके नामसे भी कहते हैं। यदि तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाय तो सचमुचमें हिंसा क्रूरता और स्वार्थकी पोषक है। मनुष्यका निजी स्वार्थ ही हिंसाका कारण है। जब मनुष्य अपने धर्मसे च्युत हो जाता है तभी वह स्वार्थवश दूसरे प्राणियोंको सतानेकी चेष्टा किया करता है; आत्मविकृतिका नाम हिंसा है और उसका फल दुःख एवं अशान्ति है और आत्मस्वभावका नाम अहिंसा है तथा सुख और शान्ति उसका फल है अर्थात् जब आत्मामें किसी तरहकी विकृति नहीं होती चित्त प्रशान्त एवं प्रसादादि गुणयुक्त रहता है उसमें क्षोभकी मात्रा नज़र नहीं आती, उसी समय आत्मा अहिंसक कहा जाता है। द्रव्यहिंसाके होने पर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है उसे तो भाव हिंसाके सम्बन्धसे ही हिंसा कहते हैं, वास्तवमें द्रव्यहिंसा तो भावहिंसासे जुदी ही है। यदि द्रव्यहिंसाको भावहिंसासे अलग न किया जाय तो कोई भी जीव अहिंसक नहीं हो सकता और इस तरहसे तो शुद्ध वीतराग-परिणति वाले साधु महात्मा भी हिंसक कहे जायेंगे; क्योंकि पूर्ण अहिंसाके पालक योगियोंके शरीरसे भी सूक्ष्म वायुकायिक आदि जीवोंका वध होता ही है, जैसा कि आगमकी निम्न प्राचीन गाथासे स्पष्ट है :—

जदि सुद्धस्स य बंधो होदि बाहिरवत्थुजोगेण।
णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु॥

—विजयोदयायां-अपराजितः-६, ८०६

हिंसा और अहिंसाके इस सूक्ष्म विवेचनसे जैनी अहिंसाके महत्वपूर्ण रहस्यसे अपरिचित बहुतसे व्यक्तियोंके हृदयमें यह कल्पना हो जाती है कि जैनी अहिंसाका यह सूक्ष्मरूप अव्यवहार्य है—उसे जीवनमें उतारना नितान्त कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतएव इसका कथन करना व्यर्थ ही है। यह उनकी समझ ठीक नहीं है; क्योंकि जैनशासनमें हिंसा और अहिंसाका जो विवेचन किया गया है वह अद्वितीय है, उसमें अल्पयोग्यतावाले पुरुष भी बड़ी आसानीके साथ उसका अपनी शक्तिके अनुसार पालन कर सकते हैं और अपनेको अहिंसक बना सकते हैं। साथ ही, जैनधर्ममें अहिंसाका जितना सूक्ष्मरूप है वह उतना ही अधिक व्यवहार्य भी है। इस तरहका हिंसा और अहिंसाका स्पष्ट विवेचन दूसरे धर्मोंमें नहीं पाया जाता, इसलिये उसका जैनधर्मकी अहिंसाके आगे बहुत ही कम महत्व जान पड़ता है।

जैनशासनमें किसीके द्वारा किसी प्राणीके मर जाने या दुःखी किये जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सब जगह जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं, परन्तु फिर भी, जैनधर्म इस प्राणिघातको हिंसा नहीं कहता; क्योंकि जैनधर्म तो भावप्रधानधर्म है इसीलिये जो दूसरोंकी हिंसा करनेके भाव नहीं रखता प्रत्युत उनके बचानेके भाव रखता है उससे दैववशात् सावधानी करते हुए भी यदि किसी जीवके द्रव्य प्राणोंका वध हो जाता है तो उसे हिंसाका पाप नहीं लगता। यदि हिंसा और अहिंसाको भावप्रधान न माना जाय तो फिर बंध और मोक्षकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती। जैसे कि कहा भी है—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन कोप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥

—सागरधर्मामृतः ४, २३

अर्थात्—जब कि लोक जीवोंसे खचांखच भरा हुआ

*स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्रण्यंतराणान्तु पश्चात्स्द्वान वा वधः॥

—तत्त्वार्थवृत्तौमें उद्धृत, पृ० २३१

है तब यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर ही निर्भर न होते तो कौन पुरुष मोक्ष प्राप्त कर सकता ? अतः जब जैनी अहिंसा भावोंके ऊपर ही निर्भर है तब कोई भी बुद्धिमान जैनी अहिंसाको अव्यवहार्य नहीं कह सकता।

अहिंसा और कायरतामें भेद—

अब मैं पाठकोंका ध्यान इस विषयकी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि जिन्होंने अहिंसा तत्त्वको नहीं समझकर जैनी अहिंसापर कायरताका लांछन लगाया है उनका कहना नितान्त भ्रममूलक है।

अहिंसा और कायरतामें बड़ा अन्तर है। अहिंसाका सबसे पहला गुण आत्मनिर्भयता है। अहिंसामें कायरताको स्थान नहीं। कायरता पाप है, भय और संकोचका परिणाम है। केवल शस्त्र संचालनका ही नाम वीरता नहीं है किन्तु वीरता तो आत्माका गुण है। दुर्बल शरीरसे भी शस्त्रसंचालन हो सकता है। हिंसक वृतिसे या मांसभक्षणसे तो क्रूरता आती है, वीरता नहीं; परन्तु अहिंसासे प्रेम, नम्रता, शान्ति, सहिष्णुता और शौर्यादि गुण प्रकट होते हैं।

दुर्बल आत्माओंसे अहिंसाका पालन नहीं हो सकता उनमें सहिष्णुता नहीं होती। अहिंसाकी परीक्षा अत्याचारीके अत्याचारोंका प्रतीकार करनेकी सामर्थ्य रखते हुए भी उन्हें हँसते-हँसते सह लेनेमें है; किन्तु प्रतीकारकी सामर्थ्यके अभावमें अत्याचारीके अत्याचारोंको चुपचाप अथवा कुछ भी विरोध किये बिना सहलेना कायरता है—पाप है—हिंसा है। कायर मनुष्यका आत्मा पतित होता है, उसका अन्तःकरण भय और संकोचसे अथवा शंकासे दबा रहता है। उसे आगत भयकी चिन्ता सदा व्याकुल बनाये रहती है—मरने जीने और धनादि सम्पत्तिके विनाश होनेकी चिन्तासे वह सदा पीड़ित एवं सचिन्त रहता है। इसीलिये वह आत्मबल और मनोबलकी दुर्बलताके कारण—विपत्ति आने पर अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता है। परन्तु एक सम्यग्दृष्टि अहिंसक पुरुष विपत्तियोंके आनेपर कायर पुरुषकी तरह घबराता नहीं और न रोता चिल्लाता ही है किन्तु उनका स्वागत करता है और सहर्ष उनको सहनेके लिये तैय्यार रहता है तथा अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका धीरतासे मुकाबिला करता है—उसे अपने मरने जीने और धनादि सम्पत्तिके समूल विनाश होनेका कोई डर ही नहीं रहता, उसका आत्मबल और मनोबल कायर मनुष्यकी भांति कमज़ोर नहीं होता, क्योंकि उसका आत्मा निर्भय है—सप्तभयोंसे रहित है। जैनसिद्धांतमें सम्यग्दृष्टिको सप्तभय-रहित बतलाया गया है*। साथ ही, आचार्य अमृतचन्द्रने तो उसके विषयमें यहाँ तक लिखा है कि यदि त्रैलोक्यको चलायमान कर देनेवाला वज्रपात आदिका घोर भय भी उपस्थित होजाय तो भी सम्यग्दृष्टि पुरुष निःशंक एवं निर्भय रहता है—वह डरता नहीं है। और न अपने ज्ञानस्वभावसे च्युत होता है, यह सम्यग्दृष्टिका ही साहस है। इससे स्पष्ट है आत्म निर्भयी—धीर—वीर पुरुष ही सच्चे अहिंसक हो सकते हैं, कायर नहीं। वे तो ऐसे घोर भयादिके आने पर भयसे पहले ही अपने प्राणोंका परित्याग कर देते हैं। फिर भला ऐसे दुर्बल मनुष्यसे अहिंसा जैसे गम्भीर तत्त्वका पालन कैसे हो सकता है ? अतः जैनी अहिंसापर कायरताका इल्ज़ाम लगाकर उसे अव्यवहार्य कहना निरी अज्ञानता है।

जैन शासनमें न्यूनाधिक योग्यतावाले मनुष्य अहिंसाका अच्छी तरहसे पालन कर सकते हैं, इसीलिये जैनधर्ममें अहिंसाके देशअहिंसा और सर्वअहिंसा अथवा अहिंसा-अणुव्रत और अहिंसा-महाव्रत आदि भेद किये गये हैं। जो मनुष्य पूर्ण अहिंसाके पालन करनेमें असमर्थ हैं, वह देश अहिंसाका पालन करता है, इसीसे उसे गृहस्थ, अणुव्रती, देशव्रती या देशयतीके नामसे पुकारते हैं; क्योंकि अभी उसका सांसारिक देहभोगोंसे ममत्व नहीं छूटा है—उसकी आत्मशक्तिका पूर्ण विकास नहीं हुआ है—वह तो असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, विद्यारूप षट् कर्मोंमें शक्त्यानुसार प्रवृत्ति करता हुआ एक देश अहिंसाका पालन करता है। गृहस्थअवस्थामें चार प्रकारकी हिंसा संभव है। संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इनमेंसे गृहस्थ सिर्फ एक संकल्पी हिंसा-मात्रका त्यागी होता है और वह भी त्रस जीवोंकी। जैन आचार्योंने हिंसाके इन चार भेदोंको दो भागोंमें समाविष्ट किया है और बताया है कि गृहस्थ-अवस्थामें दो प्रकारकी हिंसा हो सकती है, आरम्भजा और अनारम्भजा। आरम्भजा हिंसा कूटने, पीसने आदि गृहकार्योंके अनुष्ठान और आजीविकाके उपार्जनादिसे सम्बन्ध रखती है, परन्तु दूसरी हिंसा-गृही कर्तव्यका यथेष्ट पालन करते हुए मन-वचन-कायसे होने वाले जीवोंके घातकी ओर संकेत करती है। अर्थात् दो इंद्रियादि त्रसजीवोंको संकल्पपूर्वक जान बूझकर सताना

---

* सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥
—समयसारे, कुन्दकुन्द २२८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या जानसे मारना ही इसका विषय है, इसीलिये इसे संकल्पी-हिंसा कहते हैं। गृहस्थ अवस्थामें रहकर आरम्भजा हिंसाका त्याग करना अशक्य है। इसीलिये जैन ग्रन्थोंमें इस हिंसाके त्यागका आमतौरपर विधान नहीं किया है*। परन्तु यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेकी ओर संकेत अवश्य किया है जो कि आवश्यक है; क्योंकि गृहस्थीमें ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिसमें हिंसा न होती हो। अतः गृहस्थ सर्वथा हिंसाका त्यागी नहीं हो सकता। इसके सिवाय, धर्म-देश-जाति और अपनी तथा अपने आत्मीय जनोंकी रक्षा करनेमें जो विरोधी हिंसा होती है उसका भी वह त्यागी नहीं हो सकता।

जिस मनुष्यका सांसारिक पदार्थोंसे मोह घट गया है और जिसकी आत्मशक्ति भी बहुत कुछ विकास प्राप्त कर चुकी है वह मनुष्य उभय प्रकारके परिग्रहका त्याग कर जैनी दीक्षा धारण करता है और तब वह पूर्ण अहिंसाके पालन करनेमें समर्थ होता है। और इस तरहसे ज्यों-ज्यों आत्म-शक्तिका प्राबल्य एवं उसका विकास होता जाता है त्यों-त्यों अहिंसाकी पूर्णता भी होती जाती है। और जब आत्माकी पूर्णशक्तियोंका विकास होजाता है, तब आत्मा पूर्ण अहिंसक कहलाने लगता है। अस्तु, भारतीय धर्मोंमें अहिंसाधर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाला पुरुष परम-ब्रह्म परमात्मा कहलाता है। इसीलिये आचार्य समन्तभद्रने अहिंसाको परब्रह्म कहा है*। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम जैन शासनके अहिंसातत्त्वको अच्छी तरहसे समझें और उस पर अमल करें। साथ ही, उसके प्रचारमें अपनी सर्व-शक्तियोंको लगादें, जिससे जनता अहिंसाके रहस्यको समझे और धार्मिक अन्धविश्वाससे होनेवाली घोर हिंसाका—राक्षसी कृत्यका—परित्यागकर अहिंसाकी शरणमें आकर निर्भयतासे अपनी आत्मशक्तियोंका विकास करनेमें समर्थ हो सकें।

*हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरंभानारंभजत्वतोदक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते ताँ च॥
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायाप्रवर्तितारम्भः।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियमात्॥
श्रावकाचारे, अमितगतिः, ६, ६, ७

* अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भावानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥११९
स्वयंभूस्तोत्रे, समन्तभद्रः।

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश

वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित जिस 'समाधितन्त्र' ग्रन्थके लिये जनता अर्सेसे लालायित थी वह ग्रन्थ इष्टोपदेशके साथ इसी सितम्बर महीनेमें प्रकाशित हो चुका है। आचार्य पूज्यपादकी ये दोनों ही आध्यात्मिक कृतियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दोनों ग्रन्थ संस्कृत टीकाओं और पं० परमानन्दजी शास्त्रीके हिन्दी अनुवाद तथा मुख्तार जुगलकिशोरजीकी खोजपूर्ण प्रस्तावनाके साथ प्रकाशित हो चुका है। अध्यात्म प्रेमियों और स्वाध्याम प्रेमियोंके लिये यह ग्रन्थ पठनीय है। ३५० पेजकी सजिल्द प्रतिका मूल्य ३) रुपया है।

जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह

यह ग्रन्थ १७१ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंको लिए हुये है। ये प्रशस्तियाँ हस्त-लिखित ग्रन्थों परसे नोट कर संशोधनके साथ प्रकाशित की गई हैं। पं० परमानन्दजी शास्त्रीकी ११३ पृष्ठकी खोजपूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत है, जिसमें १०४ विद्वानों, आचार्यों और भट्टारकों तथा उनकी प्रकाशित रचनाओंका परिचय दिया गया है जो रिसर्चस्कालरों और इति-संशोधकोंके लिये बहुत उपयोगी है। मूल्य ५) रुपया है। मैनेजर **वीरसेवा-मन्दिर,** १ दरियागंज, दिल्ली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य वर्णीजीके प्रति श्रद्धांजलि

(विनम्र जैन)

"भारतके आध्यात्मिक योगिन् !
स्वीकारो जगतीका प्रणाम ।।"

हे पूज्यवर्य, हे गुण निधान, हो गई धन्य यह वसुन्धरा ।
तुमने अपने सज्ज्ञान-सूर्यसे, अज्ञान तिमिरको, अहो, हटा ॥
शिक्षासे ही मानव बढ़ते, शिक्षा ही जीवन-दायक है ।
तुमने सदैव यह सिखलाया, शिक्षा विवेक उन्नायक है ॥
बस एक अमिट यह चाह पाक, तुम बने सदासे हो अकाम ।
भारतके आध्यात्मिक योगिन्, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥१॥

तू परम मधुर भाषण कर्ता, अंतर बाहर द्वयसे निर्मल ।
तेरी वाणी शुचि गंगाजल, गुंजित सुरभित जिससे नभ-थल ॥
हे क्षमा-देविके चिर सुहाग, तुमको वरकर वह हुई अमर ।
तेरे पवित्र हृदयाम्बरमें, वहता रहता करुणा सागर ॥
अधरोंपर शिशु मुस्कानधार, कर्त्तव्य निरत तुम अनविराम ।
भारतके आध्यात्मिक योगिन्, स्वीकारो जगीतका प्रणाम ॥२॥

'मेरे जिनवरका नाम राम, हे संत ! तुम्हें सादर प्रणाम ।'
युगकवि१ की इस श्रद्धांजलिसे, श्रद्धाका सार्थक हुआ नाम ॥
निंदा स्तुति दोनोंसे ही तो, अपनेको चिर निर्लिप रखा ।
बस वही कर्मअरि क्षय करने, तुमने तपको वर लिया सखा ॥
निज तपश्चरणसे हे मुनीश, पाओगे वह कैवल्यधाम ।
भारतके आध्यात्मिक योगिन्, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥३॥

हो अगम ज्ञानके ज्ञाता तुम, विद्या-वारधि ! युग नमस्कार ।
वह ब्रह्मचर्य दीपित मुख-रवि, कर रहा अहिंसाका प्रसार ॥
मानवका हित साधन करने, पावन पगसे चिरकाल चले ।
हे द्रव्यदानके उत्प्रेरक, लखि तेज हृदय-पाषाण गले ॥
मुख मौन मात्र हो हे ऋषिवर ! रचनामानव विधि-लिपि ललाम
भारतके आध्यात्मिक योगिन्, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥४॥

वह पुण्य※ दिवस जब गया मध्य, तुमसे ऋषि भावे स्वयं मिले ।
वे भूमिदानके अन्वेषक, जिससे लिप्सा उर-तार हिले ॥
तुम आध्यात्मिक दुःखके त्राता, कर रहे मलिन अंतर पवित्र ।
वे भौतिक क्लेशोंके नाशक, कर रहे शुद्ध मानव-चरित्र ॥
तुम दोनों दो युग पुरुषमान्य, ज्योतित करने भारत सुनाम ।
भारतके आध्यात्मिक योगिन्, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥५॥

एकासी जन्म दिवसपर कवि, भावोंका अर्घ चढ़ाता है ।
छंदोंकी छोटीसी माला, पहिनाने हाथ बढ़ाता है ॥
तुम मौन शांत सस्मित बैठे, क्या श्रद्धा-सुमन न थे सुखकर ?
यद्यपि वाणी मुखरित न हुई, सम्बोधा दिव्याभा ने पर ॥६॥
आचरण करो सन्तोंके गुण, गुण-गानमात्र है मार्ग वाम ।
भारतके आध्यात्मिक योगिन्, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥६॥

---

१ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त

※ ४ अगस्त सन् ५३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थानमें दासी-प्रथा

राजस्थान स्वतन्त्र भारतका एक प्रान्त है। उसमें दासी प्रथाका होना राजस्थानके लिये कलंक की वस्तु है। जब भारत अपनी सदियोंकी गुलामीसे उन्मुक्त हो चुका है तब उसमें दासी प्रथा जैसी जघन्य प्रथाका अस्तित्व उसके लिये अभिशाप रूप है।

यद्यपि प्राचीन भारतमें दासी-दास-प्रथाका आम रिवाज था। जब किसी लड़के या लड़कीकी शादी होती थी तब दहेजके रूपमें हाथी घोड़ा, रथ आदि अन्य वस्तुओंके साथ कुछ दासी-दास भी दिये जाते थे। इनके सिवाय, क्रीतदास, ग्रहदास (दासीपुत्र) पैत्रिकदास दण्डदास, भुक्तदास आदि सात प्रकारके दास होते थे। चाणिक्यके अर्थशास्त्रमें इस प्रथाका समुल्लेख पाया जाता है। जैन-ग्रन्थ गत परिग्रह परिमाणव्रतमें दासी-दास रखनेके परिमाण करनेका उल्लेख किया जाता है। गुलाम रखनेकी यह प्रथा जैन-समाजमें से तो सर्वथा चली गई है, भारतमें भी प्रायः नहीं जान पड़ती, किन्तु राजस्थानमें दासी प्रथाका बने रहना शोभा नहीं देता। वहां मानवता विहीन अबला नारीका सिसकना एक अभिशाप है। आजके 'हिन्दुस्तान' नामक दैनिक पत्रमें इस प्रथा का अवलोकन कर हृदयमें एक टीस उत्पन्न हुई कि भारत जैसे स्वतन्त्र देशमें ऐसी निंद्य प्रथाका होना वास्तवमें उसके लिये भारी कलंक है।

राजस्थानमें यह प्रथा सामन्तशाहीके समयसे प्रचलित हुई जान पड़ती है। जब अंग्रेजी शासनमें 'सती' जैसी प्रथाका अस्तित्व नहीं रहा तब राजस्थानकी यह दासी प्रथा कैसे पनपती रही, यह कुछ समयझमें नहीं आता। राजस्थानके रजवाड़ोंमें राजा, महाराणा, सामन्त और राज्य मन्त्री आदिके लड़के लड़कियोंकी शादीमें दहेजकी अन्य वस्तुओंके साथ सीमित दासियोंके देनेका रिवाज है जिनकी संख्या कभी कभी सैकड़ों तक पहुँच जाती है जिन्हें आजन्म लड़की की ससुरालमें रहना पड़ता है। और एक गुलामकी तरह मालिक मालकिनकी सेवा करते हुए उनकी झिड़कियाँ गाली गलौज तथा मारपीटकी भीषण वेदना उठाना पड़ती है और अमानवीय अत्याचारोंको चुपचाप सहना पड़ता है। इस तरह उन अबलाओंका तमाम जीवन 'रावलें (रनिबास) की चहार दीवारीमें सिसकता हुआ व्यतीत होता है। जिसमें उनकी भावनाएँ और इच्छाएँ उत्पन्न होतीं और निराशाकी अनंत गोदमें विलीन हो जाती हैं। मालिक मालकिनकी सेवा उनका जीवन है। उनके अमानवीय अत्याचार एवं अनाचारोंसे पीड़ित राजस्थानकी लाखों अबलाएँ अपना जीवन राजस्थानके रनिवासोंमें पशुओंसे भी बदतर स्थितिमें रहकर आंसू बहाती हुई व्यतीत करती हैं। हमें खेद हैं कि स्वतन्त्र भारतकी सरकारका ध्यान इस प्रथाके बन्द करनेकी ओर नहीं गया। आशा है भारत सरकार शीघ्रही राजस्थानके इस कलंकको धोनेका यत्न करेगी। —परमानन्द जैन

साहित्य-परिचय और समालोचन

इष्टोपदेश (टीकात्रय और पद्यानुवादसे युक्त) ग्रंथ-कर्त्ता देवनन्दी, प्रकाशक रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई। पत्र संख्या ८८ मूल्य १॥) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) की सुन्दर आध्यात्मिक कृति है। इसमें पं० आशाधरजी की संस्कृति टीका भी साथमें दी हुई है, और पं० धन्यकुमारजी का हिंदी अनुवाद दिया हुआ है। बैरिस्टर चम्पतरायजीकी अंग्रेजी टीका, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीका दोहानुवाद, रावजी भाई देशाईका गुजराती पद्यानुवाद और बाबू जयभगवानजी एडवोकेटका अंग्रेजी पद्यानुवाद दिया हुआ है। जिससे पुस्तक और भी उपयोगी हो गई है। इष्टोपदेशकी संस्कृतटीकाको बिना किसी संशोधनके छापा गया। उद्धृत पद्योंको रनिंग रूपमें पहलेकी तरह दिया गया है। यह संस्करण अंग्रेजी जानने वालोंके लिये विशेष उपयोगी है।

प्राची—एक साप्ताहिक पत्र है जिसके दो अङ्क मेरे सामने हैं। पत्रका वार्षिक मूल्य १०) रुपया है और एक प्रतिका मूल्य चार आना। यह हिन्दीका अच्छा पत्र है जिसमें सुन्दर लेख-सामग्रीका चयन रहता है। पत्रका प्रकाशन 'प्राची प्रकाशन' ११ स्क्वायर कलकत्ता' से होता है। यदि सहयोगी इसी प्रकारकी उपयोगी पाठ्य सामग्री देता रहे तो पत्रका भविष्य उज्ज्वल और क्षेत्र विस्तृत हो जायगा, आशा है प्राचीके संपादक महानुभाव अत्युपयोगी लेख सामग्रीसे पत्रको बराबर विभूषित करते रहेंगे।

—परमानन्द जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org